गुरुकुल पत्रिका

मासिक शोध पत्रिका

MONTHLY RESEARCH MAGAZINE

सम्पादक :

डा० जयदेव वेदालंकार

न्यायाचार्य, पी-एच०डी०, डी०लिट्०

सीनियर प्रोफेसर– दर्शन विभाग

एवं

अध्यक्ष– (डीन) प्राच्य विद्या संकाय

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

वैशाख से भाद्रपद	वर्ष ४५	संयुक्तांक - अप्रैल से सितम्बर, ९३ तक

मूल्य–१५ रुपये मात्र

प्रकाशक :—

कुलसचिव
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

मूल्य— २५ रुपये (वार्षिक)

मुद्रक :- किरण प्रिंटिंग प्रेस, निकट गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी, हरिद्वार फोन-४२५६७५

सम्पादक मण्डल :

विषय-सूची

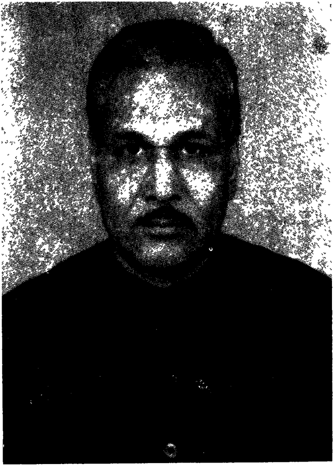
श्रुति सुधा

रथे तिष्ठन्नयति वाजिनः पुरो यत्रयत्र कामयते सुषारथिः ।
अभीशूनां महिमानं पनायत मनुः पश्चादनु यच्छन्ति रश्मयः (यजु० पृ०२९ म० ११-४३)

पदार्थः— हे विद्वानों (सुषारथिः) सुन्दर सारथि घोड़ों वा अग्न्यादि को नियम में रखने वाला रमण करने योग्य पृथिवी जल वा आकाश में चलाने वाले यान में (तिष्ठन्) बैठा हुआ (यत्रयत्र) जिस जिस संग्राम वा देश में (कामयते) चाहता है वहां वहां (वाजिनः) घोड़ों वा वेग वाले अग्न्यादि पदार्थों को (पुरः) आगे (नयति) चलाता है जिनका (मनः) मन अच्छा शिक्षित (रश्मयः) लगाम की रस्सी वा किरण हस्तगत है (पश्चात्) पीछे से घोड़ों व अग्न्यादि का (अनु यच्छन्ति) अनुकूल निग्रह करते है उन (अभीशूनाम्) महत्व की तुम लोग (पनायत) प्रशंसा करो ।

भावार्थः— जो राजा और राजपुरुष चक्रवर्ती राज्य और निश्चल विजय चाहें तो अच्छे शिक्षित मन्त्री अश्व आदि तथा अन्य चलाने वाली सामग्री अध्यक्षों शस्त्र अस्त्रों और शरीर आत्मा के बल से अवश्य सिद्ध करें ।

(महर्षि दयानन्द के यजुर्वेद भाष्य से)



डा0 धर्मपाल
कुलपति

सम्पादकीय

विश्वविद्यालय के नये परिद्रष्टा

गुरुकुल कागडी विश्वविद्यालय की शिष्ट परिषद् ने अपनी बैठक दिनाक १६-४-६३ को सर्व सम्मति से जस्टिस श्री महावीर सिंह को विश्वविद्यालय का परिद्रष्टा नियुक्त किया है। जस्टिस श्री महावीर सिंह जी इलाहाबाद उच्च न्यायालय के अवकाश प्राप्त न्यायाधीश है। श्री महावीर सिंह जी को न्याय प्रियता के लिये जहा-जहा पर वे न्यायाधीश रहे, आज भी सम्मान के साथ याद किया जाता है। आपकी आर्य समाज के सिद्धान्तो मे गहरी निष्ठा है। इसीलिये आप सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा की न्यायार्य सभा के अध्यक्ष है। न्याय-आर्य सभा में आर्य समाजो एव आर्य प्रतिनिधि सभाओ के विवादो का निपटारा किया जाता है। इन सभाओ के विवादो के निपटारे भी आप "दूध का दूध और पानी का पानी" की कहावत के अनुसार करते है। आप के उन निर्णयो को दोनो पक्ष सहज रूप में स्वीकार करते है।

जस्टिस महावीर सिंह जी ने भारतीय संविधान का हिन्दी अनुवाद अपनी विद्वतापूर्ण टिप्पणियो सहित किया है। बडे-बड़े विधि विशेषज्ञ भी आप के अनुवाद की प्रशसा करते है। आप अत्यधिक सरल व्यक्ति हैं, कानून के पोषक, सत्य, न्याय प्रिय और गम्भीर व्यक्तित्व के महापुरुष है।

गुरुकुल कागडी विश्वविद्यालय के परिद्रष्टा के रूप मे "गुरुकुल पत्रिका" परिवार आपका हार्दिक स्वागत करता है।

नये कुलपति का स्वागत

विश्वविद्यालय के परिद्रष्टा जस्टिस महावीर सिंह जी ने डा० धर्मपाल, मन्त्री आर्यप्रतिनिधिसभा दिल्ली को दिनाक ३०-६-९३ को गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय का कुलपति नियुक्त किया है।

डा० धर्मपाल जी दिल्ली के आर्यसमाजी क्षेत्रो मे लगभग २० वर्ष से समाज सेवा मे दिन रात लगे हुये हैं। दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के आप सर्वप्रिय नेता माने जाते हैं, इसलिये ही आपने आर्य प्रतिनिधि सभा दिल्ली के प्रधान एव मन्त्री पदो को अनेक बार सुशोभित किया है और अभी भी कर रहे हैं।

आप महर्षि दयानन्द के अनन्य भक्त हैं। महर्षि दयानन्द के निर्वाण एव उनके अनेक कार्यक्रमों को प्रकाश में लाने के लिये टी०वी० पर कार्यक्रमों मे सक्रिय भाग लेते रहे एव कार्यक्रमो का आयोजन करते रहे हैं। डा० धर्मपाल जी आग्ल भाषा एव हिन्दी साहित्य से एम०ए० हैं। हिन्दी साहित्य के गम्भीर विषय मे आपने डाक्टरेट (पी०एच०डी०) की उपाधि दिल्ली विश्वविद्यालय से प्राप्त की है। आप लगभग ३० वर्षों से शिक्षा जगत् से जुडे हुये हैं। एन०सी०ई०आर०टी० आदि के पाठ्यक्रम एव शिक्षा सुधारो मे विषय विशेषज्ञ के रूप मे सक्रिय भाग लेते रहे है। सम्प्रति आप दिल्ली विश्वविद्यालय में हिन्दी साहित्य के उद्भट्ट विद्वान् के रूप मे माने जाते है, वहीं पर सेवारत थे। आर्य समाज के नेता, शिक्षा शास्त्री अपने विषय के उद्भट्ट विद्वान् होने के साथ - साथ आप विनयशील एवं श्वेत वस्त्रो मे साधु व्यक्ति है।

आप गुरूकुल कागडी विश्वविद्यालय के कुलपति नियुक्त हुये हैं आप पर यह एक गुरुतर भार भी है। आप से यह आशा की जाती है कि गुरुकुल कागडी विश्वविद्यालय जहा प्राच्य विद्याओं का प्रतिष्ठान एव अर्वाचीन विषयो के सस्थान के रूप मे प्रसिद्ध है वहा यह सस्था अन्य सामान्य विश्वविद्यालयो से विशिष्ट चरित्र रखती हुई राष्ट्रीय चेतना एव वैदिक मूल्यो के थाती के रुप मे प्रख्यात होगी। आप के कार्यकाल मे यह विश्वविद्यालय दिन दुगनी रात चौगुनी उन्नति के शिखर पर प्रतिष्ठित हो, ऐसी हमारी कामना है।

आप का नये कुलपति के रूप मे "गुरुकुल पत्रिका" परिवार की ओर से हार्दिक स्वागत एव अभिनन्दन है।

जयदेव वेदालंकार
सम्पादक

ब्रह्मदर्शन

प्रा० भद्रसेन वेद-दर्शनाचार्य (होशयारपुर) १४६०२१

दर्शनाचार्य का जब नया सत्र समारम्भ हुआ, तो वेदान्त[1] के दर्शन के पाठ्यक्रम मे प्राध्यापक ब्रह्मानन्द जी ने दर्शन के अर्थ, परिभाषा के प्रसग मे वेदान्द शब्द के अभिप्राय और सम्बन्ध को समझाते हुए ग्रन्थ का एक सामान्य परिचय दिया। अगले दिन जब छात्र पुन. अध्ययन के लिए बैठे, तो ब्रह्मदेव ने कहा–गुरु जी ! कल आपने बताया था, कि वेदान्त दर्शन मे ब्रह्मजिज्ञासा का समाधान है। यह ब्रह्म शब्द साहित्य मे अन्यत्र भी आया है। अतः ग्रन्थ के शुभारम्भ से पूर्व उस-उस विषय के ग्रन्थो मे आए ब्रह्म के विवेचन से परिचित करा दे, तो हमारे लिए विषय बोध सरल हो जाएगा ?

प्राध्यापक– ब्रह्मदेव ! तेरी यह जिज्ञासा बहुत ही उपयुक्त है। अतः आइए। पहले इसी पर ही विचार करे। जैसा कि तुम सब जानते हो, कि सस्कृत भाषा की दृष्टि से मूलशब्द है- ब्रह्मन्। जो कि बृह धातु से मनिन प्रत्यय के होने पर सिद्ध होता है। अतः ब्रह्म शब्द की मूल धातु है– बृह, जो कि बृद्धि के अर्थ में आती है। इस लिए इसका तात्पर्य है– **बड़ा।**

ब्रह्मप्रकाश– गुरु जी ! कल के पाठ के पश्चात् मे पुस्तकालय गया था। वहा मैंने एक नई पुस्तक बड़ी सुन्दर जिल्द वाली देखी। जब मैने उसको खोलकर देखा, तो वह शब्दकोष था और उसमे ब्रह्म, ब्रह्मन् शब्द के– 'सच्चिदानन्द-स्वरुप परमात्मा, जगत् का मूलतत्त्व, हिरण्यगर्भ, वेद, सत्य, प्रणव, योग, तप, तत्त्व, विप्र, ऋत्विग् विशेष [ब्रह्मा] आदि अनेक अर्थ लिखे हुए थे ?

प्राध्यापक– इन सभी अर्थो पर जब हम विचार करते है तो एक बात स्पष्ट होती है, कि जो जिस-जिस प्रकरण, क्षेत्र, विषय मे बडा है। उस को वहा तदनुरूप

१– वेदान्त शब्द वेद+अन्त इन दो केमेल से बनता है। अन्त शब्द यहा सिद्धान्त के अर्थ में है। अर्थात् वेद के मुख्य सिद्धान्त [प्रतिपाद्य विषय, ब्रह्म] का जिस मे विचार है, वह वेदान्त दर्शन है। सर्वे वेदा यत्पदम् कठ उप २,१५ के अनुसार वेद का मुख्य प्रतिपाद्य ब्रह्म ही है।

ब्रह्म कहा गया है। जैसे कि भारतीय साहित्य के वैदिक वाङ्मय में विशेष-विशेष यज्ञों को कराने वाले चार व्यक्ति [ऋत्विक] होते हैं- होता, उद्गाता, अध्वर्यु और ब्रह्मा। इन सब का मुखिया ब्रह्मा होता है।[2] अन्य उसकी अनुमति से ही अपना अपना कार्य करते हैं। अतएव इस बडेपन के कारण उस को उस प्रकरण मे ब्रह्मा [बडा] कहा जाता है। ब्रह्मा के स्वरुप की चर्चा मे मन के साथ उसका सम्बन्ध एवं तुलना दर्शाई गई है।[3] जैसे आंख, कान आदि इन्द्रियो की अपेक्षा मन इनका नियन्त्रक है।[4] यही कुछ स्थिति यज्ञ मे अन्यो की अपेक्षा ब्रह्मा की होती है। इस लिए इस विश्लेषण मे मूलसूत्र है- बड़ापन। संसार मे जिस-जिस आधार से जहा कही जो कोई बड़ा है, वह वहा ब्रह्म कहलाता है। अत. अकेले या समस्त पद के रूप में जहां-जहां ब्रह्म शब्द प्रयुक्त हुआ है, वहा सर्वत्र यही भावना है।

ब्रह्म स्वरूप- गुरु जी ! आपने इस विश्लेषण मे ब्रह्म का जो मोटा सा अर्थ- **बड़ा** बताया है। उससे मुझे हिन्दी का एक पद्यांश स्मरण आ रहा है। यदि अनुमति हो, तो मैं वह अंश अभिव्यक्त कर दू ?

प्राध्यापक- मैं भी यही चाहता हू, कि यह जिज्ञासा की भावना तुम सब मे प्रस्फुटित हो, क्योकि जिज्ञासा की स्थिति मे विचार चर्चा का विशेष आनन्द आता है। अतः वह पद्यांश अवश्य सुनाओ !

ब्रह्मस्वरूप- सब से बडा रुपय्या न कोई भैय्या, न कोई मैय्या।

प्राध्यापक- हां, एक अन्य कवि श्री गिरिधर ने भी कहा है-

साई सब ससार मे पैसे का व्यवहार, जब तक पैसा पास मे तब तक ताको यार।
तब तक ताको यार-यार सग ही सग डोले पैसा रहा न पास यार मुख से नही बोलै ॥

२- ऋ. १०,७१।।ऋचात्वः पोषमास्ते-और इसकी व्याख्या निरुक्त १,३ तथा सायणभाष्य मे द्रष्टव्य है।

३- मनसा एव ब्रह्मा यज्ञस्य अन्यतर पक्ष सस्करोति-गोपथ ब्राह्मण ३,२

४- एकादश मनो ज्ञेय स्वगुणेनोभयात्मकम्। यस्मिञ्जिते जितावेतौ भवतः पञ्चकौ गणौ ।।मनु. २,९२

कह गिरिधर कविराय

हाँ, कवि के समय यह बात कितनी स्पष्ट थी, यह तो वही जाने, पर आज तो यह बात शत प्रतिशत चरितार्थ हो रही है। आज तो उच्चपदो पर आसीनो और करोडो में खेलने वालो के निन्यानवे के जो घटनाचक्र सामने आ रहे हैं। उन्होंने भर्तृहरि के भावो को पूर्णतः चरितार्थ कर दिया है—

'निश्चय ही जग मे गुण सारे कचन मे करते हैं वास' [5]
'बिना एक जिस के गुण सारे हैं तृण के टुकडे समव्यय' [6]

गोपाल दास गुप्त

ऐसी स्थिति मे ब्रह्म स्वरूप ! तेरी पक्ति यथार्थ ही है, कि सबसे बड़ा रूपय्या— क्योकि आज की दुनिया और जीवन मे धन ही परम ब्रह्म प्रतिभासित होने लगा है। तभी तो गोपाल प्रभाकर ने लिखा है—

'अर्थ की धुरी पर
घूम रही है दुनिया
अर्थ के आकर्षण से बन्धे हुए
सारे लोग
द्वार दरीचों से तकते हैं
दूसरो का अर्थ

पैसा
जीवन है, संस्कृति है
आरम्भ है इति है
सुरक्षा है, गति है
सब कुछ है पैसा इस पैसे के खम्भे पर ही
खडे है रिश्तो के मेहराब

ब्रह्मेन्द्र— गुरु जी ! एक दिन में रुपये की आत्मकथा पढ रहा था, उसमे भी इसका अच्छा विवेचन था। उसको भी इस प्रसग मे प्रस्तुत कर दिया जाए, तो प्रकरण की स्पष्टता के लिए उपयुक्त रहेगा ?

प्राध्यापक— एक विचारक ने उस आत्मकथा को इस प्रकार लिखा है-

रूपये की आत्मकथा

हाँ ! हाँ ! मैं रुपया हू, दुनिया मे सबसे बडा, मुझसे बडा कोई नही। सभी लोग मेरे नाम की माला जपते है। मेरी चमक-दमक के आगे सभी लोगो की आखे

५– सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति नीतिशतक–४१

६– ये तै केन विना गुणास्तृणलव प्रायाः समस्ता इमे नीति. ३९

चु धिया जाती है, राजा क्या, रंक क्या, सभी मुझे प्यार करते है। मुझे पाकर कौन व्यक्ति खुशी मे फूला नही समाता और बिछुड़ने पर कौन सर्द आहे नही भरता। मेरी चमक-दमक के कारण पिता-पुत्र का, पुत्र-पिता का, भाई-भाई का शत्रु बन जाता है। मै दुनिया मे हर एक वस्तु के खरीदने की शक्ति रखता हू। एक भिखारी से लेकर भगवान् के चरणो तक घूमता रहता हूं। बाहर से इतनी शान होते हुए भी मेरी आन्तरिक कथा इतनी करुणाजनक है कि उसे याद करके आज भी मेरी आखे छलछला आती हैं।

सदिया बीत गई, मै लगातार पृथिवी की गोद मे पडा रहा। एक दिन भयानक कोलाहल से मेरी नीद खुल गई। ज्यों ही मैने दृष्टि घुमाई अनेको मजदूर कुदालियां लिए खडे थे। थोडी देर के पश्चात् दनादन मेरे ऊपर चोटे पड़ने लगी। कठन परिश्रम के पश्चात् मजदूरो ने मुझे धरती मा की गोद से निकालकर अलग कर दिया मेरे ऊपर कई प्रकार की तह जमी हुई थी। वहा से ट्रको मे भरकर शुद्ध करने के लिए ले जाया गया। रास्ते भर की यात्रा हमे बहुत आनन्ददायक लगी। यह आनन्द शीघ्र ही गायब हो गया, जब कि हमे बडे भट्टो मे डाला गया। इसके पश्चात् अनेक तेजाबो से हमारी शुद्धि की गई। अब मेरा रूप काफी निखर आया था। मुझे अपने ऊपर गर्व होने लगा। लोग अब प्यार मे मुझे शुद्ध चादी कहने लग पडे।

मै समझने लगा था, कि मेरे दुखो का अन्त हो गया। लेकिन यह मेरी भूल थी। अभी परीक्षा शेष थी। मुझे अन्य धातुओ सहित पिघला कर सांचो मे ढाला गया। साचो मे ढल जाने पर मेरी शकल गोल हो गई थी। मेरे एक ओर तीन शेर तथा दूसरी और मेरी पुण्य तिथि अकित की गई। मैं प्रसन्नता से झूम उठा, अब मुझे गाडी की यात्रा करने को मिली। यात्रा मे मैं आराम से सौ गया। धीरे-गाड़ी चलती रही। अन्त मे एक बड़े नगर मे पहुच कर मुझे अपने बन्धुओ सहित बैंक मे पहुचा दिया गया।

बैंक बहुत बड़ा था। मैं अपने आपको स्वतन्त्र अनुभव कर रहा था। बैंक में बहुत से लोग आते, वे रुपये लेते और जमा करा जाते। अनेक सज्जन तो रुपये लेने

के लिए आते थे। कुछ लोग ऐसे भी आते जो केवल नोटों की अदला बदली ही करते। एक दिन एक बनिया आया, उस ने शायद सौ रुपये लेने थे। बैंक के बाबू ने सौ के नोट लेकर बनिए को सौ रुपये दे दिए। बनिया भी अजीब आदमी था, पर मेरा मालिक था। इस लिए निन्दा तो नहीं करनी चाहिए। इतना जरूर कहूंगा कि अव्वल दर्जे का मक्खी चूस था। उसने पहले तो इतने जोर से जमीन पर मारा कि मेरी तो बस जान ही निकल गई। फिर उसने हमें एक मैली-कुचैली पोटली में बाधकर पेटी मे बन्द कर दिया। मुझे तो उस पेटी मे सास लेना दूभर हो गया। बनिया कभी-कभी पेटी को खोलता। जब भी पेटी खुलती तो वह पोटली को खोलता मुझे हवा के ठंडे झोको के साथ लाला जी के मुख से श्रीराम के स्वर भी सुनने को मिलते। प्रभु का नाम सुनकर मेरा मन प्रसन्न हो जाता। बनिया फिर हमे पेटी मे बन्द कर देता, यह उसका क्रम था।

एक दिन बनिया कहीं बाहर गया हुआ था। उसकी पत्नी ने हमे पेटी से खोल कर निकाला मै तथा मेरे चार साथी उस के हाथ लगे। उस दिन शायद मगलवार था और उसका व्रत था। चार साथी रुपये तो उसने प्रसाद मे खर्च कर डाले और मुझे लेकर उसके कदम मन्दिर की ओर बढ गए। मन्दिर मे भीड़ थी। लोग भगवान् के दर्शन करके आनन्दित हो रहे थे। मेरी मालकिन ने भगवान् के दर्शन करके प्रसाद तथा मुझे साथ मे रख दिया। भगवान् के चरणो मे पहुंच कर मै अपने भाग्य पर प्रसन्न हुआ। पर पुजारी जी ने मुझे यहा टिकने नही दिया। दूसरे दिन मै प्रसाद बेचने वाले की दुकान पर भेज दिया गया। यह कभी समाप्त न होने वाली मेरी आत्म कथा है।

ब्रह्मेश - हा, स्वामी विद्यानन्द जी विदेह ने अपनी आत्मकथा मे एक स्थल पर इस प्रसग का बड़ा सुन्दर चित्रण किया है।

वे लिखते है, कि मैं एक नगर मे कथा करने गया हुआ था। कथा से पूर्व प्रतिदिन मैं- **'नमो ब्रह्मणे नमस्ते वायो त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि–** अर्थात् ब्रह्म के लिए नमस्कार है, वायो! आप के लिए नमस्भाव है।

तुम ही प्रत्यक्ष ब्रह्म हो, तुमको ही स्पष्ट ब्रह्म कहूगा — इस मन्त्र का उच्चारण करता था। कथा कई दिन से चल रही थी। जिस परिवार मे मैं ठहरा हुआ था, वहा एक दिन उसी परिवार का एक पांच वर्ष का बालक, अपने माता – पिता के साथ बैठा था। वह उन के साथ कथा मे नियमित उपस्थित रहता था। जब उस के माता–पिता मेरे साथ वार्तालाप मे व्यस्त थे, कुछ देर तो बालक शान्तिपूर्वक बैठा रहा। पुन: बाल स्वभाव वश खेलने लगा। खेलते - खेलते उस ने मेज से सौ रुपये का नोट उठाया और दोनो हाथो मे लेकर उस नोट को देखते हुए अकस्मात् गाने लगा — त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि, त्वामेव प्रत्यक्ष ब्रह्म वदिष्यामि — कुछ क्षण पश्चात् मेरा उस ओर ध्यान गया। बालक की क्रिया को देखकर और शब्दो को सुनकर मस्तिष्क में एकदम आया, कि इस बालक ने तो इस मन्त्र की अनूठी संगति सुझाई है। आज अधिकतम का जीवन व्यवहार वस्तुतः यही पाठ कर रहा है। कि **पैसा ही असल में भगवान् है।**

प्रा०– इस सारी चर्चा से स्वत: स्पष्ट हो गया, कि धन भौतिक पदार्थों के आदान – प्रदान का मानदण्ड तथा मूल्याकन और प्राप्ति का आधार होने से प्राचीन काल में तो कम, अपितु आज पूर्ण ब्रह्म चरितार्थ हो रहा है। आज की स्थिति को देखकर, स्वतः मुख से निकलता है —

टका धर्मष्ठ का कर्म टका हि पपमं पदम्।
यस्य गृहे टका नास्ति हा टका टकटकायते ॥

अर्थात् पैसा ही धर्म, कर्म और परम पद है, जिसके पास यह नही, वह केवल दूसरों को ताकता रह जाता है।

ब्रह्मदत्त– यह चर्चा तो बड़ी रोचक हो गई है। इस रोचकता से मुझे भी एक लोकोक्ति स्मरण आ रही है, कि 'ढिड्डे न पइयां रोटियां तै सब्बे गल्लां खोटियां' क्योंकि बड़े के सामने छोटा या उसके अभाव में सब कुछ फीका ही लगता है या वह वह कार्य असम्भव बन जाता है। तभी तो कहते हैं —

'भूखे न होय भजन गोपाला'
यह लो अपनी कण्ठी माला'

प्रा०— ब्रह्मदत्त ! तूने व्यवहार के आधार पर जो तात्पर्य लिया है। वह केवल अभिप्राय ही नही अपितु उपनिषद् के ऋषि ने भी स्पष्ट शब्दो मे अन्न को ब्रह्म कहा है। इस दृष्टि से 'अन्न ब्रह्मोपासते तै. २,२ तथा अन्न ब्रह्मेति व्याजानात् तै ६,२ वचन द्रष्टव्य है।[1]

हम सब अपने प्रतिदिन के जीवन में स्पष्ट रूप से देखते है, कि भोजन एक बहुत बडी चीज है। जब तक यह प्राप्त होता रहता है तभी तक जीवन के हर कार्य मे रस आता है, अन्यथा मोटा – ताजा शरीर भी असमर्थ तथा हर कार्य को करना उस के लिए कठिन हो जाता है। भोजन के बिना कोई विकल्प भी वहा कारगर नही होता। तभी यो एक विद्वान् ने कहा है, भूखो की भूख व्याकरण से और प्यासो की पिपासा काव्यरस से शान्त नही होती। अतः इन भौतिक भोजनादि द्रव्यो या इन की प्राप्ति के मानदण्ड [धन] के बिना सब कुछ निष्फल, बेकल हो जाता है।[2] अर्थात् भाषा शास्त्र, शब्दानुशासन के विशेषज्ञो का भी पेट अपने विषय के विश्लेषण से नही भरता। कविकुल गुरु कालिदास जैसे कवियो की काव्य प्रतिभाजन्य काव्य रस से किसी की प्यास शान्त नही होती। अपितु बड़े – बड़े धार्मिकों की भी भूख मे नैतिकता खो जाती है।[3] अतः यह स्थिति अन्न को स्वतः

१— अन्नं हि भूताना ज्येष्ठम्, तस्मात्सर्वौषधमुच्यते।
सर्वं वै तेऽन्नमाप्नुवन्ति। येऽन्न ब्रह्मोपासते।
अन्नाद् भवन्ति भूतानि जातान्यन्नेन वर्धन्ते। अद्यतेऽत्तिच भूतानि तस्मादन्न तदुच्यते। तै० २,२
अन्नमूर्जस्करं लोके प्राणाश्चान्ने प्रतिष्ठिताः। अन्ने धार्यते सर्वं विश्वं जगदिदं प्रभो।।महा० १३,६२,७
अन्नं ह्यमृतमित्याहु १३,६२,३१, अन्नतः सर्वमेतद्धि यत्किञ्चित्स्थाणु जङ्गमम् १३,६२,३४
अन्न वै परमं द्रव्यमन्नं श्रीश्च परा मता। अन्नात्प्राणः प्रभवमि ते जो वीर्यं बलं तथा।। १३,६५,५७
- बुभुक्षितैर्व्याकरणं न भुज्यते, पिपासितैः काव्यरसो न पीयते।
न छन्दसा क्वापि समुद्धृत कुलम्, हिरण्यमेवाश्रय निष्फला गुणा.।।
– त्यजेत्क्षुधार्ता महिला स्वपुत्रं, खादेत्क्षुधार्ता भुजगी स्वमण्डम्।
बुभुक्षितः किन्न करोति पापम्, क्षीणा नरा निष्करुणा भवन्ति।।

ब्रह्म सिद्ध करती है। और तब यही परिणाम सामने आता है—

न कुछ देखा ज्ञान-ध्यान मे, न कुछ देखा पोथी मे।
कहत कबीर सुनो भाई साधो जो देखा वो रोटी मे॥

ब्रह्मगुप्त– 'सब से बड़ा रुपय्या'— वाक्य के आधार पर बाजार वाले बड़े की भी बात हो जाए, तो इस का एक और पहलू भी प्रकट हो जाएगा।

प्रा०– ब्रह्म शब्द के व्यापक अर्थ के विचार के साथ उस के मूल स्वारस्य की खोज की दृष्टि से हम इस चर्चा को चर्चित कर रहे है। हा व्यापक अर्थ के प्रसग से ब्रह्मगुप्त ने पूर्व प्रसग के अनुरूप एक अन्य पहलू की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है। यह **'बड़ा'** किसी को ब्रह्मत्व प्राप्ति की प्रक्रिया को विशेष रूप से प्रकट करता है। क्योंकि प्रत्येक पाककला विशेषज्ञ और बड़ा प्रेमी अच्छी प्रकार से जानता है, कि यह रुचिकर 'बडा', वही बढिया होता है। जिस की दाल अच्छो, स्वच्छ, पूरी भीगी हुई, खूब पिसी, उचित तली हुई और फिर यथार्थ ढग से उबालकर यथासमय दही मे डाला गया 'बडा' ही स्वादु, रुचिकर होता है। जैसे कि बडे के बनाने वाले सारे के सारे इस प्रक्रिया को अपनाते हैं, पर सब के बडे एक जैसे रोचक स्वादु नही होते। इस भेद का कारण कही न कही किसी कमी का रह जाना है या किसी न किसी अन्तर का आ जाना है। जो भी इन सभी पहलुओ पर पूरा ध्यान देता है। उसी के हाथ मे विशेषता आती है। उसी का 'बडा' अच्छा, स्वादु, रुचिकर तथा बढिया होता है, जो उसकी बनावट अर्थात् सारी प्रक्रिया के प्रति सजग होता है। क्योकि प्रत्येक नगर मे बडे बनाने वाले तो बहुत होते है, पर प्रसिद्ध तो दो-चार के ही होते है। **'बड़े'** की तरह जो भी किसी क्षेत्र मे आगे बढने की प्रक्रिया पर ध्यान देता है, वही वहा बडा बनने मे सफल होता है।

हा ब्रह्म के व्यावहारिक पक्ष या ब्रह्मदर्शन की साधना की ओर यह **'बड़ा'** हमारा ध्यान अवश्य ही आकर्षित करता है। जैसे कि मनुस्मृति [२,२४,१२,१०२,१२,१२५] मे आया है, कि वेद [आदि धार्मिक ग्रन्थो] के अध्ययन और उनके तत्त्वो को समझने, नियमो के पालन, अन्तः बाह्य शोधक यज्ञीय प्रक्रिया के अनुष्ठान, मर्यादा

पूर्वक सन्तानो के संवर्धन–संरक्षण सदश कर्मो से और पंचमहा यज्ञ [आत्मविकास, व्यावहारिक शुद्धि, पितृ सेवा, अतिथि सत्कार, प्राणी सरक्षण] तथा सभी प्राणियों मे समारत हुए परमात्मा को अपने आपे द्वारा सदर्शन करने से व्यक्ति ब्रह्म प्राप्ति के योग्य होता है।[1]

ब्रह्मेश्वर– यह ठीक है, कि जीवन–धन, अन्न के बिना अधूरा–अधूरा ही रहता है, पर यह सारी चर्चा अपने आप में अनोखापन ला रही है और इसका आनन्द तो हमे धन, अन्न के बिना भी मिल रहा है। हम तो यहा केवल ज्ञान चर्चा ही कर रहे है। यह ठीक है कि धन, अन्न के बिना अनेकबार सब कुछ फीका ही रह जाता है। पुनरपि चाहे कितने ही अश की बात हो, पर जीवन मे ज्ञान का महत्त्व भुलाया नही जा सकता। धन, अन्न आदि का उत्पादन, अर्जन, विकास, निवेश भी तो विद्या के बिना कठिन है। इसी लिए हमारे प्रत्येक कार्य के कार्यान्वयन का मूलमन्त्र ज्ञान ही है अतएव ['न हि ज्ञानेन सदृश पवित्रमिह विद्यते–गीता ४,३८ सर्वेषामेव दानाना ब्रह्मदान विशिष्यते–मनु० ४,२३३] सदश उक्तिया किस से छिपी हुई हैं।

प्रा० मनुष्य के विचारशील होने से उसके प्रत्येक व्यवहार मे यत्र–तत्र सर्वत्र ज्ञान का योगदान सर्वथा स्पष्ट है। अतएव विद्वान् सर्वत्र पूज्यते और कि कि न साधयति कल्पलतेव विद्या सदश सूक्तिया सबके सामने है। तभी तो तैत्तिरीय उपनिषद् के ऋषि ने अपनी चर्चा को उत्तरोत्तर चलाते हुए कहा है– विज्ञान ब्रह्मेति व्याजानात् [३,५] अर्थात् अनुभव और विचार–विमर्श के बाद ऋषि ने विज्ञान को एक महान् तत्त्व के रूप मे समझा क्योंकि भक्ति की प्रक्रिया दुनियावी कार्य, बौद्धिक और

१- स्वाध्यायेन व्रतैं र्हो मैस्त्रैविद्ये ज्यया सुतै ।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीय क्रियते तनु ॥मनु. २,२८॥
वेदशास्त्रार्थ तत्त्वज्ञो यत्र यत्राश्रमे वसन् ।
इहैव लोके तिष्ठन्स ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ १२,१०२॥
एव य सर्वभूतेषु पश्यत्यात्मानमात्मना ।
स सर्वसमताभेत्य ब्रह्माभ्येति पर पदम् ॥१२,१२५॥

शारीरिक कार्य ज्ञान–विज्ञान से ही सम्पन्न होते है।[1] सबसे बडी बात तो यह है, कि विज्ञान सम्पन्न व्यक्ति किसी भी क्षेत्र मे पिछड़ता नही।[2]

मनुदेव– मनुस्मृति मे भी तो ब्रह्म शब्द का प्रयोग हुआ है ?

प्रा० मनुस्मृतिकार ने अपने विवेचन का मूल वेद को ही स्वीकार किया है।[3] और अपने विश्लेषण मे अनेक बार वेद के लिए ब्रह्म शब्द का प्रयोग किया है।[4]

भारत की **साहित्यिक परम्परा**, **धार्मिक कर्मकाण्ड की प्रक्रिया** की समीक्षा से भी स्पष्ट होता है, कि वेद के आधार पर ही ये दोनों पल्लवित, पुष्पित एवं फलित हुई हैं। इस सारे का भाव यह है कि हमारे पुराने साहित्य मे अध्यात्म, राजनीति, अर्थशास्त्र, भौतिक विज्ञान और चिकित्सा शास्त्र आदि के ग्रन्थ है वे सारे यही कहते है कि हमने अपने–अपने विषय का ज्ञान वेदो से ही प्राप्त किया है तथा हमारे सारे धार्मिक पूजा–पाठ, संस्कार, यज्ञ आदि वेद के मन्त्रों से ही होते है। वैसे तो वेद का एक प्रमुख अर्थ ज्ञान भी है, अत कार्यों के कार्यान्वियन से जहा ज्ञान बहुत बडी चीज सिद्ध होता है, वहां भारतीय साहित्य, धर्म संस्कृति, सभ्यता का मूल होने से भी

१– विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च।
विज्ञानं देवा सर्वे ब्रह्म ज्येष्ठमुपासते ॥ तै. २,५

२– विज्ञान ब्रह्म चेद्वेद तस्माच्चेन्न प्रमाद्यति ॥ तै. २,५
ऐसा व्यक्ति कही पिछडता नही

३– त्वमेको ह्यस्य सर्वस्य विधानस्य स्वयम्भुवः। अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य कार्यतत्त्वार्थवित प्रभो ॥ १,२

४– ब्रह्मारम्भेऽवसाने च पादौ ग्राह्यो गुरो सदा। मनु० २,७१
ब्रह्मणः प्रणवं कुर्यादादावन्ते च सर्वद। २,७४,
ओङ्कार पूर्विका स्तिस्रो महाव्याहृतयोऽव्ययाः। त्रिपदा च सावित्री विज्ञेयं ब्रह्मणो मुखम् ॥२,८१
कर्मब्रह्मोद्भव विद्धि ब्रह्माक्षर समुद्भवम्। तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥गीता ३,१५

वेद को ब्रह्म शब्द से अभिहित किया गया है। हां, वेद सर्वज्ञानमय[1] होने से सर्वथा ब्रह्म शब्द का सार्थक पर्याय है अर्थात् ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद इन चारो के लिए भी ब्रह्म नाम हमारे साहित्य में अनेक जगह आया है।

वेर्णी– गुरु जी ! भारतीय साहित्य और जीवन में ब्रह्मचारी शब्द भी तो बहुत आकर्षण रखता है। अतः इस प्रसंग में इसका समन्वय भी अपेक्षित है ?

प्रा०– हमारे यहां चार आश्रम है, इनमे से जीवन के प्रथम भाग को ब्रह्मचर्य आश्रम कहा गया हैं। इसी स्थिति वाले को ब्रह्मचारी कहते है। इन दिनो शरीर की समृद्धि और ज्ञान की उपलब्धि विशेष उद्देश्य होते है। अतएव उपनिषद् के ऋषि ने इस प्रसंग मे **'बलमुपास्व'** अर्थात् शरीर बल और विद्याबल के अर्जन का विशेष सन्देश दिया है। अतः ज्ञान के साथ शरीर विकास के मूलभूत तत्त्व के लिए भी ब्रह्म शब्द का अनेकत्र प्रयोग प्राप्त होता है। इन ब्रह्मों की साधना करने वाले को इस दृष्टि से ब्रह्मचारी कहा गया है।[2]

जीवनानन्द– गुरु जी ! पूर्वचर्चा मे ज्ञान के लिए ब्रह्म का सकेत तो स्पष्ट हो चुका है, पर शरीर समृद्धि के लिए ब्रह्म शब्द का प्रयोग कैसे किया गया है। कृपया इस पर भी प्रकाश डालेगे ?

प्रा०– शरीर एवं ज्ञान साधना से सिद्ध होने वाले मुख्य साध्य की दृष्टि से जहां ब्रह्म शब्द का प्रयोग विशेष अभीष्ट है, वहाँ इस जीवन साधना मे क्रम की

१– स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हिस. मनु० २,७, धर्मं जिज्ञासमानाना प्रमाण परम श्रुतिः; १३ ॥१२,९४
वेदोऽखिलो धर्ममूलम् मनु० २ ६, । तस्मात्सर्वगत ब्रह्म गीता ३,१५
पितृदेवमनुष्याणा वेदश्चक्ष. सनातनम् । अशक्य चाप्रमेय च वेदशास्त्रमिति स्थितिः ॥९६
बिभर्ति सर्वभूतानि वेदशास्त्र सनातनम् । तस्मादेतत्पर मन्ये यज्जन्तोरस्य साधनम्
चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वार श्चाश्रमा. पृथक् । भूत भव्य भविष्य च सर्वं वेदात्प्रसिध्यति ॥९७
२– ब्रह्म एव व्रत, तत् चरितु शीलं यस्य स ब्रह्मचारी

दिशा से सर्वप्रथम ज्ञेय यह ही है, कि हम खाद्य, पेय, चोष्य, लेह्य रूप मे जो भी भोजन ग्रहण करते हैं। उसका शरीर मे परिपाक होता है, जो कि शरीर विज्ञान की निर्दिष्ट प्रक्रिया से विविध रूपों में हमारे शरीर का अग–सग होता है। अर्थात् हम अपनी काया मे जो चर्म, रक्त, मांस आदि देखते हैं। ये सब हमारे द्वारा खाए गए भोजन के ही परिणाम हैं। अतएव आयुर्वेद के विशेषज्ञ बतलाते हैं कि हम जो भी भोजन खाते हैं वह परिपाक की प्रक्रिया के अनुरूप रस, रक्त, मांस, मज्जा, मेद, अस्थि, वीर्य सदश सप्त धातुओ मे परिणत होता है। आयुर्वेद के आचार्य वीर्य को जीवन का मूलतत्त्व, तेज–बल–बुद्धि का आधार मानते है।[1] परिपाक की इस प्रक्रिया से भी स्पष्ट होता है, कि रस से रक्त रक्त से मास अर्थात् इन सप्त धातुओ [शरीर धारको] का वीर्य सार रूप है। अतः इस आधार से वह इस प्रसग मे ब्रह्म ही है। ऐसे ब्रह्म की संभाल एक महत्त्वपूर्ण साधना है, जिससे शरीर का स्वास्थ्य स्पष्ट रूप से समृद्ध होता है। शरीर के स्वास्थ्य पर ही अन्य सारी गतिविधिया टिकी हुई हैं।[2] अतः शरीर समृद्धि के इस तत्त्व को ब्रह्म कहना सर्वथा सगत है।

विवेक– इस चर्चा मे कहीं संभाल और कहीं शरीर की समृद्धि के तत्त्व शब्द का आपने सकेत किया है। अतः इससे आपका अभिप्राय क्या है ?

प्रा०– ब्रह्मचारी के प्रकरण में ये दोनों शब्द वर्ते गए हैं। अत शरीर की इन धातुओं की खजाने की तरह सम्भाल, व्यवस्था से ही यहां अभिप्राय है। तभी तो 'ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति। आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते॥ अथर्व ११,५,१७ ब्रह्मचर्येण कन्या युवान विन्दते पतिम ११ ५.१८ के प्रसग मे जैसे ब्रह्मचर्य शब्द अपने–अपने प्रकरण के अनुरूप ब्रह्म की व्यवस्था, दिनचर्या, साधना की सिद्धि का वाचक है। ऐसे ही शरीर की समृद्धि के सार तत्त्व की **सभाल, सयम** ही इस प्रकरण का मूल अभिप्राय है।

१– मृत्युव्याधिजरानाशि पीयूष परमौषधम्।
ब्रह्मचर्यं महद् रत्न सत्यमेव वदाम्यहम्॥

२– धर्मार्थ काममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्। चरक–सूत्र. २८,३८
शरीरमाद्य खलु धर्मसाधनम् कुमारसम्भव ५,३३ अतः सर्वमन्यत् परित्यज्य शरीर मनु पालमेत् चरक–निदान ६,७

ब्रह्मप्रिय— गुरुजी ! पिछली चर्चा में उपनिषदों का वारम्बार संकेत आया है। अतः कल की चर्चा के पश्चात् मैंने पुस्तकालय मे जाकर तैत्तिरीय का अवलोकन किया, तो वहा ब्रह्म का विस्तृत वर्णन देखा। अतः उस प्रकरण पर भी कुछ प्रकाश डाल दिया जाए तो 'सोने में सुहागा' वाली बात हो।

प्रा०— यह बड़ी प्रसन्नता की बात है, कि तुम सब की जिज्ञासा भावना इस चर्चा की रूपरेखा मे सुन्दर से सुन्दर रग भर रही है। अतः आइए ! ब्रह्म की परिपुष्ट होती हुई चर्चा मे उपनिषद् के उस प्रसग पर भी एक दृष्टिपात कर ले।

भारतीय साहित्य मे उपनिषद् एक उल्लेखनीय ग्रन्थराशि है। गुरु या विषय की निकटता से जो ज्ञान 'गहरे पानी पैठ' होता है वह ही उपनिषद् कहलाता है। वैसे तो आज उपनिषदों की संख्या लगभग दो सौ है, पर उन में से अठारह, कुछ की दृष्टि से ग्यारह प्राचीन तथा सर्वमान्य है। इन्ही मे से एक तैत्तिरीय उपनिषद् है, जिसके पहले प्रकरण का नाम शिक्षावल्ली है। जिसमे शिक्षा के विविध पहलुओ पर विचार किया गया है। दूसरी वल्ली का नाम ब्रह्मानन्द है, इस में शरीर से जुड़े अन्न, प्राण मन, विज्ञान [मय कोशो] पर विचार है। इन को क्रमश ब्रह्म रूप मे सकेतित करते हुए, इनकी उत्तरोत्तर उत्कृष्टता बताई है।

तीसरी वल्ली का नाम भृगुवल्ली है क्योकि भृगु अपने पिता के पास जाकर चर्चा करता है। वहा का प्रसग है कि भृगु अपने पिता वरुण के पास आया और कहा, भगवन् ! ब्रह्म का उपदेश दीजिए तब वरुण ने कहा – अन्न, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन, वाणी जिससे उत्पन्न होते है और उत्पन्न होकर जिसके आधार पर

१— मनो ब्रह्मेत्युपासीत इत्यध्यात्मम्

अथाधिदैवतम्। आकाशो ब्रह्म।

इत्युभयमादिष्टं भवत्यध्यात्मं चाधिदैवत छ छान्दोग्य ३,१८,१

तदेतच्चतुष्पाद् ब्रह्म वाक्पाद प्राणः पादश्चक्षुः पाद श्रोत्र पाद.। इत्यध्यात्मक अअथाधिदैवतम्। अग्निपादो वायुपाद. आदित्य पादो दिशः पादः इत्युभमेवादिष्टं ३,१८,२

जीवित रहते है। तथा जिस में विलीन होते हैं, **उसको ही ब्रह्म समझो।** इस प्रह्वान के आधार पर भृगु ने जब विचार किया, तो स्पष्ट हुआ, कि सब से स्पष्ट ऐसा तत्त्व अन्न ही है। इस विषयका और बिमर्श करने पर स्पष्ट हुआ कि प्राण [३,३] भी ऐसा तत्त्व है, जिस पर जन्म, जीवन टिका हुआ है। इस के पश्चात् क्रमशः मन [३,४], विज्ञान [३ ५] और आनन्द [३,६] की उत्तरोत्तर चर्चा आई है।

छन्दोग्य उपनिषद् [३,१८] मे भी ब्रह्म की चर्चा आई है, वहा पिण्ड और ब्रह्माण्ड के आधार पर ब्रह्म को समझाने का प्रयास किया है। शरीर मे मन को ब्रह्म बताकर मन के साथ वाक् प्राण [नासिका], चक्षु, श्रोत्र का तथा ब्रह्माण्ड मे आकाश को ब्रह्म बताकर उसके साथ अग्नि, वायु, आदित्य, दिशा रूपी चार चरणो में है। इस प्रकार अपने – अपने क्षेत्र के इंडे को समझा कर उसके आधार पर प्रकरणगत विषय को स्पष्ट किया गया है।

वैसे भी जैसे कि तुम सबने वैशेषिकादि दर्शनो में पांच भूतों का विवेचद पढा है। उनमे से आकाश अपनी व्यापकता से बड़ा होने के कारण यहा ब्रह्म कहा गया है।

सिद्धब्रह्म– गुरु जी ! अभी ऊपर की समीक्षा मे आपने कहा है, कि शरीर एव ज्ञान रूपी साधना का भारतीय परम्परा के अनुरूप एक विशेष साध्य है। अतः ब्रह्मचारी शब्द का ब्रह्म कुछ विशेष अर्थ को भी सकेतित करता है। उसको भी स्पष्ट करने की कृपा करेंगे ?

प्रा०– प्रिय छात्रों ! हमारी यह मीमासा स्वाभाविक रुप से अपने मूल विषय की ओर प्रवाहित हो रही है। यह वाक्य मैं ने केन्द्रबिन्दु की ओर लाने के लिए ही प्रयुक्त किया है। आपने देखा, कि ब्रह्म शब्द जहा शरीर समृद्धि के तत्त्व एवं ज्ञान का सकेत करता है, वहां ज्ञान के आगार वेद का भी वाचक है। अतः ब्रह्मचारी की ये तीनो जहां साधनाये, है वहां इन साधनाओ का भारतीयता के अनुरूप परमब्रह्म ही ही साध्य है[1]। करे जो साधना ब्रह्म की वह ब्रह्मचारी कह लाता है। वस्तुत वही

१– यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तते पद सग्रहेण व्रवीम्योमि स ब्रह्म परमभ्येति मनु० २,८२, एकाक्षर पर ब्रह्म मनु० २,८३ त्येतत् कठ० २,१५

प्रत्येक प्रकार से सबसे बडा और पूर्ण ब्रह्म है ।[1]

ब्रह्मस्वरूप— क्या वेदान्तदर्शन की ब्रह्मजिज्ञासा का अभिप्राय इसी से है ?

प्रा०— हां, हमारी चर्चा और इस दर्शन का प्रतिपाद्य यही ही है । यतोहि वेदान्त का प्रथम सूत्र है— 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' अर्थात् पूर्वोक्त सब कुछ ज्ञान लेने के बाद अब ब्रह्म को जानने की इच्छा है। इस सूत्र मे जिस ब्रह्म की जिज्ञासा अभिव्यक्त की है, उस ब्रह्म की पहचान को बताते हुए दूसरे सूत्र मे कहा- [जन्माद्यस्य यतः] कि हमारे चारो और जो भौतिक पदार्थ सूर्य आदि दृश्य तथा जो अदृश्य रूप मे विद्यमान है और जिन का कर्ता-धर्ता बारम्बार विचारने पर भी हम मे से कोई सिद्ध नही होता है । अतः यह जगत् जिसके कारण पैदा होता और फूलता फलता है—**वही ब्रह्म है** ।[2]

इस विषय को मनन की कोटी की ओर ले जाते हुए तीसरे सूत्र मे कहा है, कि यह केवल युक्ति, अनुमान की ही बात नहीं, अपितु सारे सारे शास्त्र एक स्वर से ब्रह्म को ही इस संसार का स्रष्टा, व्यवस्थाकर्ता निर्दिष्ट करते हैं [शास्त्रयोनित्वात्] । हा, इस सूत्र का दूसरा अर्थ यह भी है, कि ब्रह्म न केवल प्राकृतिक पदार्थों का रचयिता है, अपितु इसके साथ शास्त्र—ज्ञान का दाता भी ब्रह्म ही है । इससे अगले सूत्र में यह भाव गूंथा है, कि जैसे एक कलाकृति अपने कलाकार के साथ समन्वित होती है । अपने कर्ता की योग्यता का सर्वथा परिचय देती है, ऐसे ही इस सृष्टि रूपी अपनी कलाकृति मे वह ब्रह्म सर्वत्र समाया हुआ है [तत्तु समन्वयात् १,१,४] अर्थात् इस सृष्टि की सर्जना, व्यवस्था, एक रूपता अपने कलाकार को अभिव्यक्त कर रही है ।

१– ओ३म् खं ब्रह्म यजु. ४,१७ अक्षर दुष्कर ज्ञेय ब्रह्मचैव प्रजापतिः॥ २,८४
वेद शास्त्रार्थ तत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे वसन् ।
इहैव लोके तिष्ठन्स ब्रह्मभूयाय कल्पते ।।मनु. १२,१०२
एव यः सर्वभूतेषु पश्यत्यात्मानमात्मना ।
स सर्वता मेत्य ब्रह्माभ्येति पर पदम् ।।१२,१८

२– यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते । येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसं-विशन्ति ।। तै ३,१

ब्रह्म का ऐसा वर्णन शास्त्रो में किसी एक स्थल पर ही नहीं, अपितु सर्वत्र प्राप्त होता है, अर्थात् सारे शास्त्रो का इन दृष्टियों से मुख्य प्रतिपाद्य ओम् नाम वाच्य ब्रह्म ही है।[1]

निकष– वेद उपनिषद् आदि मे जगत् का कर्ता, धर्ता, संहर्ता केवल ब्रह्म ही तो वर्णित नही हैं, क्योंकि ब्रह्म कही विष्णु का, तो कही प्राण, आकाश, अन्न, आनन्द आदि का इस रूप मे चित्रण मिलता है ?

प्रा०–निः सन्देह शास्त्रों मे अन्न, प्राण, आकाश आदि से भी जगत् के कर्तृत्व आदि को दर्शाया गया है। इन सब शब्दों का वाच्य क्या है ? यह एक विशेष विचारणीय प्रश्न है, इसीलिए वेदान्त दर्शन के अगले सूत्रों में विचार–विमर्श करते हुए बताया है, कि इन–इन शब्दो द्वारा ब्रह्म की ही चर्चा है, क्योंकि उस-उस प्रकरण मे जो विशेषण आए हैं, वे सब ब्रह्म मे ही घटते हैं। अतः प्राण आदि शब्दो से निर्दिष्ट जगत् कर्तत्व आदि क्रियायें केवल ब्रह्म की ही है। प्राण, आकाश आदि शब्द अलग-अलग होने से ये अलग-अलग कर्ता सिद्ध नही होते, अपितु भिन्न-भिन्न नामो से प्रकरण के अनुरूप गुण का निर्देश करते हुए एक ब्रह्म का ही सकेत है।

हां, ब्रह्मसूत्र में सर्वांगीण रूप से ब्रह्म के इस रूप और स्वरूप को स्पष्ट किया है। यह सब तुम ब्रह्मसूत्र के अध्ययन मे स्वत. पढोगे ही। हां ब्रह्म से अभिहित जितने भी तत्त्व है, वे सभी सर्वथा सर्वदा परब्रह्म के नियन्त्रण सचालन के अन्तर्गत ही आते है। अतः सबसे बड़ा तथा पूर्ण परमब्रह्म परमेश्वर ही है। अतः ब्रह्म का निजी स्वरुप जहां सच्चिदानन्द[2] [सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म तै. २,१] है, वहां वह तुलनात्मक या अपने सर्वनियामक के रुप मे सर्वव्यापक, सर्वत्र सर्वद्रष्टा सर्वशक्तिमान् सर्वान्तर्यामी आदि गुणों वाला है और अतएव ब्रह्मत्व सर्वातिशायी है।

१– सर्वे वेदा यत्पद मामनन्ति तपांसि सर्वाणिच यद् वदन्ति ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् कठ उप. २,१५

२– सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म । यो वेद निहित गुहायां परमे व्योमन् ।
सोऽश्नुते सर्वान् कामान् । सह ब्रह्मणा विपश्चितेति तै. २,१

एक महत्व पूर्ण शोध पत्र

मैडम ब्लैवेट्स्की के स्वामी दयानन्द विषयक संस्मरण

ले० प्रो० भवानीलाल भारतीय रत्नाकर ८/४/२३
नन्दन वन, जोधपुर (राजस्थान)

विगत कई वर्षों से स्वामी दयानन्द के समकालीन देशी-विदेशी लेखकों के स्वामी जी के सम्बन्ध में लिखे गये उद्गारों, संस्मरणों तथा विचारों को ढूंढने, तलाशने तथा उन्हें दयानन्द विषयक अनुसंधान में रूचि रखने वाले पाठक समुदाय के समक्ष रखने की चेष्टा कर रहा हूं। यह एक इतिहास सम्मत तथ्य है कि थियोसोफिकल सोसाइटी के संस्थापक द्वय कर्नल हेनरी स्टील आॅल्काट तथा श्रीमती हेलेना पेट्रोवना ब्लैवेट्स्की (१८३१-१८९१) स्वामी दयानन्द के सम्पर्क में आये थे। इनका स्वामी जी से पत्र व्यवहार तो तभी आरम्भ हो गया था जब वे अमेरिका में उसी वर्ष थियोसोफिकल सोसाइटी की स्थापना कर चुके थे, जिस वर्ष (१८७५) में स्वामी जी ने १० अप्रैल १८७५ को बम्बई में आर्य समाज की स्थापना की। तत्पश्चात् पारस्परिक विचार विमर्श करने तथा आर्य समाज और थियोसोफिकल सोसाइटी के भावी कार्यकलापों में एकतानता तथा समन्वय स्थापित करने की दृष्टि से उक्त दोनों महानुभाव १६ फरवरी १८७९ को भारत आये और बम्बई के समुद्र तट पर उतरे।

कर्नल और मैडम ने अपनी भारत यात्रा का विस्तृत विवरण अपने ग्रन्थों में लिखा है। कर्नल आॅल्काट की ओल्ड डायरी लीव्ज और मैडम का फ्राम दि केव्ज एण्ड जगल्स आफ हिन्दोस्तान ऐसे ग्रन्थ हैं जिनमें उनके भारत प्रवास का वर्णन अंकित है। ओल्ड डायरी लीव्ज के दयानन्द विषयक सदर्भों और प्रसगों को अपनी टिप्पणी सहित हम पाठकों के समक्ष अन्यत्र प्रस्तुत कर चुके है। पर्याप्त समय से हमें मैडम के उपर्युक्त ग्रन्थ 'फार्म दि केव्ज एण्ड जगल्स' की तलाश थी। इस ग्रन्थ का प्रथम अग्रेजी सस्करण लदन, न्यूयार्क और मद्रास से (१८९२) मैडम की मृत्यु के बाद छपा था और यह बर्षो से अनुपलब्ध था। यह ग्रन्थ मूल रूप में लेखिका की मातृभाषा रूसी में लिखा गया था इसे उसने धारावाही लेखों के रूप में रूसी पत्र पत्रिकाओं के लिये लिखा था और १८८३ में ही इसका प्रथम भाग मास्को से प्रकाशित हुआ।

१८१२ में इसका दूसरा सस्करण सेंट पीटर्स बर्ग से छपा। हमारे पाठकों को यह जानकर आश्चर्य होगा कि श्रीमती ब्लैवेटस्की ने रूसी पत्रो मे अपने ये लेख 'राधा बाई' के नाम से लिखे थे।

८६ वर्ष पश्चात् केव्ज एण्ड जगल्स का दूसरा परिशोधित अग्रेजी सस्करण बोरिस डिजिरकोफ के द्वारा अनूदित और सम्पादित होकर १९७५ मे प्रकाशित हुआ। इसका नवीनतम सस्करण १९८३ मे अमेरिका मे मुद्रित हुआ है। हमे यह दुर्लभ ग्रन्थ हमारे मित्र श्री आदित्यपाल सिंह (भोपाल) ने उपलब्ध कराया, एतदर्थ हम उनके आभारी है।

मैंडम ब्लैवेट्स्की ने अपनी भारत यात्रा के रोचक संस्मरणो को अत्यन्त विस्तार पूर्वक नितान्त रोचक शैली मे लिखा है। उनके इस यात्रा विवरण मे केवल घटनाओ और व्यक्तियो का ही उल्लेख नही है, किन्तु वह यह तत्र प्रसगोपात्त भारतीय धर्म, दर्शन, पूजा-पद्धति, एतद्देशीय स्थापत्य, कला और साहित्य पर भी अपने विचार प्रस्तुत करती है। जैसा कि हम जानते है और स्वय उनके ही सहयोगी और साथी कर्नल आल्कट ने भी इसकी साक्षी दी है, मैंडम की वर्णन शैली मे अतिशयोक्ति, अतिरजना, दूर की उडान तथा यत्र तत्र कल्पना का अतिशय भी रहता है। अत पाठको को इस ग्रन्थ को पढते समय यह तथ्य अपनी दृष्टि से ओझल नही करना चाहिए कि उसकी लेखनी से निकला प्रत्येक शब्द या वाक्य सत्य नही है। इस निर्देश के पश्चात् हम 'फाम दि केव्ज एण्ड जगल्स आफ हिन्दोस्तान' के स्वामी दयानन्द विषयक सदर्भो का सटिप्पणी हिन्दी अनुवाद पाठको के लिये प्रस्तुत करते है।

सदर्भ-१ 'अमेरिका से प्रस्थान करने से कोई दो वर्ष पूर्व हम एक विद्वान् ब्राह्मण से निरन्तर पत्र व्यवहार कर रहे थे। यह विद्वान् यूरोप वासियो मे भी सुपरिचित था तथा वर्तमान समय मे भारत मे इसकी ख्याति सर्वोपरि है। यह ब्राह्मण प० दयानन्द सरस्वती स्वामी हैं। हम इनके मार्गदर्शन मे आर्यों के प्राचीन देश (भारत) वेद तथा कठिन भाषा सस्कृत का अध्ययन करने आये थे। दयानन्द सरस्वती समकालीन भारत मे सस्कृत के सर्वोच्च ज्ञाता माने जाते है तथा इनका व्यक्तित्व भी हर एक के लिये रहस्यपूर्ण पहेली के तुल्य हैं। केवल पाच पूर्व ही ये सुधार के

क्षेत्र मे आये हैं। इसमे पूर्व वे एक तपस्वी की भाति अरण्यवासी थे। तत्पश्चात् उन्होने रहस्यवादी योगियो तथा एकान्त सेवी साधको की सहायता से आर्यावर्त के प्रधान दार्शनिक सम्प्रदायो का अध्ययन किया तथा वेदो के निगूढ रहस्यो को जाना सामाजिक जीवन मे आगमन के प्रथम दिन से ही उनका जो प्रभाव लोगो पर पडा वह उल्लेखनीय था। उन्हें भारत का लूथर नाम दिया गया। एक नगर से दूसरे नगर मे देश के एक छोर से दूसरे छोर तक भ्रमण करते हुए, आज दक्षिण मे तो कल उत्तर मे उन्होने अविश्वसनीय द्रुत गति से यह पर्यटन किया, इस प्रकार उन्होने सम्पूर्ण भारत प्रायद्वीप का भ्रमण किया, कुमारी अन्तरीप से हिमालय तक तथा कलकत्ता से बम्बई तक।[1] वे एक ईश्वर का उपदेश देते रहे तथा वेदो को हाथ मे लेकर लोगो को यह बताते रहे कि इन प्राचीन ग्रन्थो मे एक भी ऐसा शब्द नही है जिससे बहुदेवतावाद की पुष्टि होती हो।

मूर्तिपूजा के प्रति वज्र निक्षेप करते हुए यह महान वाग्मी अपनी सम्पूर्ण शक्ति से जाति प्रथा, बाल विवाह तथा अध विश्वास से सघर्ष कर रहा है भारत मे शताब्दियों मे जो बुराइयां पनपी हैं, उनके लिए यह विद्वानो के वितण्डावाद तथा वेदो के गलत अर्थ करने को ही दोषी ठहराता है। इसके लिए वह पूर्ण निर्भीकता के साथ एक मात्र ब्राह्मणो को ही उत्तरदायी मानता है। वह अपनी सभाओ मे उन्हे स्वदेश की अवमानना के जिम्मेदार घोषित करता है और कहता है कि इन्ही के कारण हमारा देश जो एक समय महान् तथा स्वाधीन था, आज पतित एव परतत्र है। तथापि ग्रेटब्रिटेन की दृष्टि मे दयानन्द सरस्वती मित्र ही हैं, शत्रु नही। न केवल यही कि वे लोगो को विदेशी शासन से विद्रोह करने के लिए नही कहते, इसके विपरीत वे खुले आम कहते है-यदि आप अग्रेजो, को निकाल बाहर करेगे तो उसके दूसरे ही दिन हम और आप जो ब्राह्मणो की मूर्तिपूजा और मुस्लिम तानाशाही का विरोध करते है, सुरक्षित नही रह सकेगे। भेडो की तरह हमारे गले काट डाले जायेगे। मुसलमान लोग मूर्तिपूजको से अधिक शक्तिशाली है, किन्तु ये मूर्तिपूजक हमसे भी अधिक शक्तिशाली है।''........ तथापि अग्रेज अपने लाभ के प्रति

१ स्वामी दयानन्द का दक्षिण भ्रमण महाराष्ट्र तक ही था।

इतने निरासक्त है कि दो वर्ष पूर्व जब स्वामी दयानन्द को लेकर पूना की जनता दो वर्गों में विभाजित हो गई थी, ये वर्ग थे सुधारक तथा मूर्तिपूजक पुराण पन्थी और जब सुधारक वर्ग के लोगों ने विजयी एवं वाग्मी दयानन्द का सत्कार उन्हें गजारुढ करके किया तो पुराण पन्थियों ने उन पर कीचड़ तथा पत्थर बरसाये अंग्रेजों ने दयानन्द को सुरक्षा प्रदान करने के स्थान पर उन्हें नगर से बाहर भेज दिया और पूना में उनके पुन. प्रवेश पर पाबन्दी लगादी ।[1]

इस पण्डित [दयानन्द] ने जन समाज के धोखेबाज शत्रु ब्राह्मणो से अनेक बार जोशीले शास्त्रार्थ किये और सदा विजय प्राप्त की । बनारस मे उन्हें मारने के लिए गुप्त हत्यारो को भेजा गया किन्तु इन प्रयत्नो मे उन्हें सफलता नही मिली । बगाल के एक छोटे कस्बे मे जब कि वे अधिक कठोरता के साथ जड पूजा का खण्डन कर रहे थे, एक कट्टरपंथी ने एक बडे साप को बहुत दक्षता के साथ उनके नगे पावो पर फेंका । यदि यह सांप किसी को काट ले तो तीन मिनट में ही उसकी मृत्यु हो सकती है । इस विष का प्रतिकार करने वाली कोई औषधि भी नहीं है । इस शिव-पूजक ने चिल्ला कर रहा, "वासुकि नाग देवता ही इस बात का फैसला करेंगे कि हममे से कौन सत्य है ।" इसे पक्का विश्वास था कि शैव मत के रहस्यो को प्रस्तुत करने के लिए विशेष रूप से प्रशिक्षित यह साप उसके विरोधी के जीवन को अविलम्ब समाप्त कर देगा ।

स्वामी दयानन्द ने शान्त भाव से कहा, "अच्छी बात है" और अपने पाव को कुण्डली मारकर जकड़ लेने वाले कोबरा साप को एक ही झटके से दूर कर दिया और सुदृढ पाव के नीचे सॉप के मस्तक को कुचलते हुए कहा– "देखो तुम्हारा देवता तो बड़ा सुस्त निकला, मैने ही इस सारे झगडे का फैसला कर दिया है ।" और इसके पश्चात् उपस्थित भीड़ को सम्बोधित करते हुए उन्होंने कहा, "आप जाकर लोगो को बताये कि झूठे देवताओ का किस प्रकार विनाश हो जाता है ।"[2]

१– स्वामी स्वत. ही पुना से चले गए थे ।

२– मैंडम द्वारा उल्लिखित घटना यद्यपि अन्य जीवनचरितो मे नही मिलती, किन्तु इसे अविश्वसनीय भी नही कहा जा सकता ।

पण्डित दयानन्द के उत्कृष्ट संस्कृत ज्ञान का ही धन्यवाद करना चाहिए कि वे वेदों के एकेश्वरवाद को लेकर जनता मे प्रचलित अज्ञान का निवारण तो कर ही रहे है वे विज्ञान की भी सेवा कर रहे है। वे बताते हैं कि वास्तव मे ब्राह्मण कौन हैं। भारत मे यही वह जाति रही है जो शताब्दियों तक संस्कृत साहित्य का अध्ययन करने और वेदों की व्याख्या करने का अधिकार अपने पास रखती रही और इस जाति ने अपने इस अधिकार को मात्र अपने हित के लिए ही स्वायत्त किये रखा। बरनफ, कोलब्रुक तथा मैक्समूलर जैसे विद्वान् प्राच्य विदों के काफ़ी पहले भारत मे ऐसे अनेक एतद्देशीय सुधारक हुए हैं जिन्होने वेदप्रतिपादित विशुद्ध एकेश्वरवाद को सिद्ध किया ऐसे नवीन सम्प्रदाय प्रवर्तक भी हुए जिन्होने इन शास्त्रो को ईश्वरादिष्ट मानने से इन्कार किया। कलकत्ता निवासी राजा राममोहनराय तथा उनके बाबू केशवचन्द सेन इसी श्रेणी में आते है। किन्तु इनमे से किसी को भी निश्चित सफलता नहीं मिली, इन्होंने भारत मे पहने से ही प्रचलित अनेक सम्प्रदायो में अपने द्वारा प्रवर्तित नये सम्प्रदायो को जोडा। बहुत अल्प उपलब्धि प्राप्त कर राममोहन राय इग्लैंड मे ही दिवगत हुए जब कि उनके उत्तराधिकारी केशवचन्द सेन ने ब्रह्म समाज की स्थापना की।[1] यह सख्या बाबू केशवचन्द्र सेन की स्वकल्पनाओं से प्रसूत मत ही है।

इस प्रकार भारतवर्षीय आर्यों के प्राचीन एवं पवित्र एकेश्वरवाद को पुन. स्थापित करने के सभी प्रयास न्यूनाधिक रूप से असफल रहे हैं। ये प्रयास ब्राह्मणवाद तथा पूर्वाग्रहों की उस चट्टान से टकराने वाली लहरों के तुल्य ही थे, जो शताब्दियो से अपनी नीव मे दृढ़ता से चिपकी हुई है। किन्तु देखो, अप्रत्याशित रूप से दयानन्द सरस्वती का प्रादुर्भाव हुआ। उनके निकट के शिष्य भी, दूसरो की तो बात ही रहने दे यह नहीं जान सके कि वे कौन हैं और कहां से आये है। वे अपने श्रोताओ के समक्ष खुले आम स्वीकार करते है कि आज वे जिस नाम से जाने जाते है, वह भी उनका अपना नही है, किन्तु उनको सन्यास में दीक्षित करते समय योगी गुरुद्वारा दिया गया था। किन्तु एक बात निश्चित है– भारत मे शकराचार्य के समय से अब

१– केशव ने नव विधान की स्थापना की थी।

तक दयानन्द के समान संस्कृत का विद्वान् गम्भीर दार्शनिक, आश्चर्य जनक वक्ता, तथा प्रत्येक बुराई का निर्भीक आलोचक अन्य कोई नहीं हुआ।

दयानन्द की बाह्याकृति भी प्रभावशाली है। वे असाधारण रूप से लम्बे हैं, उनका रंग यद्यपि किंचित श्याम[1] किन्तु पीत (वे भारतीय की अपेक्षा यूरोपीयन से लगते हैं) उनकी आखे दीर्घ तथा अग्नि के समान दीप्ति युक्त हैं। उनकी आवाज स्पष्ट है, और प्रभावशाली है, उनकी वाणी विभिन्न स्तरो पर गूंज उठती है और प्रत्येक प्रकार के भावो को व्यक्त करने मे समर्थ है। कभी तो वे बहुत मधुर वाणी मे बुराई की भर्त्सना करते है तो कभी निन्दनीय पुरोहितवाद के दुष्कृत्यो और मिथ्या-वादो पर उनकी वाणी वज्र की भाति शेष वृष्टि करती है। इस प्रकार उनकी यह प्रभावपूर्ण वाणी अतिसवेदनशील तथा मननशील हिन्दुओ पर अप्रतिरोध्य प्रभाव उत्पन्न करती है।

जहां कहीं दयानन्द जाते हैं, लोग उनकी चरणधूलि का अनुसरण करते और उसे नमन करते चलते हैं। बाबू केशवचन्द्र सेन की भाति वे किसी नये धर्म की शिक्षा नही देते और न किसी नवीन मतवाद की ही स्थापना करते है वे उन्हे अपने प्राय. विस्मृत संस्कृत साहित्य की ओर जाने के लिये ही कहते है तथा उन्हे भारतवर्षीय पुरातन आर्य पूर्वजो के सिद्धान्तो की वर्तमान हिन्दू ब्राह्मणो के मत से तुलना करने के लिए भी कहते है ताकि लोग अग्नि, वायु, आदित्य तथा अगिरा जैसे पुरातन ऋषियो द्वारा प्रतिपादित ईश्वर के पवित्र स्वरूप की ओर पुन. लोट आये। वे अन्य मतावलम्बियों की भांति यह भी उपदेश नही देते कि वेद किसी ऊर्ध्वलोक निवासिनी शक्ति के द्वारा प्रकट किये गये हैं अपितु उनका कहना हैं कि वेदो का प्रत्येक शब्द सर्वोच्च ईश्वरीय प्रेरणा से युक्त हैं जो पृथ्वी निवासी मानव जाति को प्रदान की गई है। यही दैवी आदेश मानवता के इतिहास मे, जब भी आवश्यकता हुई, अन्य राष्ट्रो को भी मिला है।

विगत पांच वर्षो में स्वामी दयानन्द को लगभग २० लाख अनुयायी, मुख्यत: उच्च जातियो से प्राप्त हुए हैं। उनकी आकृति से ही जाना जा सकता है कि वे

१- स्वामी दयानन्द गौर वर्ण के थे।

स्वामी दयानन्द के आदर्शों की पूर्ति के लिए अपना जीवन, अपनी आत्मा, यहां तक कि अपनी सांसारिक सम्पदा भी, जो कि हिन्दुओं को अपने जीवन से भी अधिक मूल्यवान् लगती है, न्योछावर कर सकते हैं। किन्तु दयानन्द एक सच्चे योगी की भांति धन का स्पर्श भी नहीं करते, आर्थिक समस्याओं के प्रति विरक्त रहते हैं, तथा दिन मे दो मुठ्ठी चावलों से ही सन्तुष्ट रहते है। इस उल्लेखनीय हिन्दू महापुरुष का जीवन जादू भरा सा लगता है। वह अपने विरोधियों की भावनाओं की तनिक भी परवाह नही करते और उनकी कठोर समीक्षा करते हैं। भयानक खतरों मे शायद ऐसे क्षणो मे भी अविचलित रहते हैं। हमने उन्हे एक बार कार्यरत देखा। उन्होंने अपने सभी आज्ञाकारी अनुचरो को दूर भेज दिया। उन्हे इसके लिए भी मना कर दिया कि वे न तो उनकी रक्षा करने अथवा बचाने के लिए ही आयें। इसके पश्चात् वे क्रुद्ध भीड के समक्ष अकेले ही खड़े हो गये वे अपने उन विरोधियो का अत्यन्त धैर्य के साथ सामना करते रहे तो इतने क्रुद्ध थे मानों उनके शरीर के टुकडे–टुकड़े कर देंगे।[1]..........।

दो वर्ष पूर्व उन्होने वेदों का अनुवाद करना आरम्भ किया। वे इन का संस्कृत और हिन्दी मे सर्वथा नूतन भाष्य लिख रहे है। हिन्दी मे भाष्य लिखना इसलिये आवश्यक समझा है, क्योकि यह इस देश की अत्यन्त प्रचलित भाषा है। जर्मन संस्कृतज्ञ मैक्समूलर के लिये, जो स्वयं वेदो का अनुवाद कर रहा है, स्वामी जी के ये भाष्य असीम सहायता स्रोत है। वह स्वयं दयानन्द से निरन्तर पत्राचार द्वारा सम्पर्क बनायें रखता है।[2] आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय मे प्रोफेसर तथा प्राच्य विद्याओं का एक अन्य प्रकाश पुञ्ज मोनियर विलियम्स भी स्वामी दयानन्द का बहुत अधिक आभार स्वीकार करता है। भारत में रहते समय वह स्वयं स्वामी दयानन्द तथा उनके शिष्यों से सुपरिचित हो गया था।

मैडम ब्लैवेदस्की द्वारा प्रदत्त उपयगी पाद टिप्पणियां

१– यह घटना किस स्थान की है, यह अन्वेषणीय है।

२– स्वामी दयानन्द और मैक्समूलर का पत्र व्यवहार अभी प्रकाश मे नही आया।

उपर्युक्त संदर्भ के कतिपय स्थलों पर लेखिका ने जो टिप्पणियां दी हैं वे इस इस प्रकार है—

१. "केशवचन्द्र सेन के सम्बन्ध में वे लिखती है– वर्तमान में ऐसा लगता है कि केशव सेन का दिमाग ही कुछ विक्षिप्त सा हो गया है और वे नृत्य करने वाले फकीर की भांति हो गये हैं। वे अपने आपको पैगम्बर कहते हैं और एक गंदे तालाब में बैठकर चैतन्य, कुरान और बुद्ध की प्रशंसा के गीत गाते हैं। स्त्रियोचित वेशभूषा धारण कर वे अपने साथियों के साथ एक रहस्य पूर्ण नृत्य करते हैं जिसे वे मा दुर्गा के प्रति अपनी भक्ति प्रकट करने का हेतु बताते हैं। इस देवी को वे माता, पिता तथा भ्राता कह कर सम्बोधित करते हैं।" केशव की यह दशा उस समय हो गई थ. जब वे ब्रह्मसमाज के एकेश्वरवाद के सिद्धान्त से हट कर परमहंस रामकृष्ण के सम्पर्क मे आये और मा काली के भक्त बने। उस समय वे साकारोपासना का भी समर्थन करने लगे और विभिन्न पौराणिक देवी देवताओ को परमात्मा के ही विभिन्न दिव्य गुणों का साकार प्रतीक मानने लगे थे। वे चैतन्य के द्वारा प्रतिपादित नृत्य गान मय वैष्णव भक्तिवाद के भी समर्थक बन गये। भ० ला० भारतीय

२. स्वामी दयानन्द के वेद भाष्य पर मैडम की टिप्पणी

'यह वेद भाष्य बम्बई से मासिक अंकों के रूप में सम्पादित और प्रकाशित होता और इसके द्वारा संगृहित धन आर्यसमाज बम्बई द्वारा संचालित स्कूलों और पुस्तकालयो के संचालन में व्यय होता है। पं० दयानन्द ने इस समय तक सारे भारत मे ६० से अधिक स्कूल और पुस्तकालय स्थापित किये हैं। इन पाठशालाओं में संस्कृत का अध्ययन अनिवार्य है तथा ये स्वावलम्बी है।" उक्त कथन में कई बातें तथ्य के विपरीत हैं। वेद भाष्य की बिक्री से प्राप्त धन का उपयोग भाष्य के आगे के अंश के छपने मे ही व्यय होता था। स्वामी दयानन्द द्वारा स्थापित विद्यालयो की संख्या ६० कभी नही रही। सम्भवतः मैडम का आशय उस समय तक सारे भारत में स्थापित आर्यसमाजो की संख्या रही हो जो ६० के लगभग हो सकती है। भ० ला० भारतीय

३. मोनियर विलियम्स पर मैडम की टिप्पणी

प्रो० विलियम्स ने अपने दो वर्ष के भारत के निवास काल मे सस्कृत के ग्रन्थों अपने अनुवाद कार्य मे एक सहायक की सेवाये प्राप्त का। अन्तत. उन्हे स्वामी दयानन्द के सर्वश्रेष्ठ शिष्य युवक प० श्याम जी कृष्ण वर्मा सहायक के रूप मे मिले। यह नव युवा हिन्दू अभी हाल ही मे आक्सफोर्ड गया है और उसने अग्रेज सस्कृतज्ञ मोनियर विलियम्स को यशस्वी बनाया है और स्वय ने भी ओक्सफोर्ड मे प्रशसा अर्जित की है। दो वर्षों में ही उसने ग्रीक और लैटिन पर अधिकार प्राप्त कर लिया है और इन भाषाओं की परीक्षा मे युवक अग्रेज विद्यार्थियों को भी पीछे रख दिया है। अग्रेजी समाचार पत्रो मे इस युवक की प्राय: चर्चा रहती है। विस्तार के लिये द्रष्टव्य– प० श्याम जी कृष्ण वर्मा का जीवन चरित.– ले० डा० भवानीलाल भारतीय : प्रकाशक गोविन्दराम हासानन्द दिल्ली।

सदर्भ–२ "थोडे समय बाद थियोसोफिकल सोसाइटी की शाखाये भारत तथा श्रीलंका में भी स्थापित हो गई। यूरोपीयनों की अपेक्षा इस सोसाइटी मे बौद्ध और ब्राह्मण सदस्यो की सख्या कहीं अधिक है। सोसाईटी के नाम के साथ निम्न उपशीर्षक जोड दिया गया – 'मानवता का भ्रातृसघ'। स्वामी दयानन्द द्वारा स्थापित आर्यसमाज के साथ, जो एक धार्मिक और सुधारक संगठन है, सोसाइटी का जीवन्त पत्र व्यवहार हुआ और दोनो सस्थानों के बीच परस्पर सहयोग करने का समझौता भी हुआ। तत्पश्चात् न्यूयार्क की थियोसोफिकल सोसाइटी की प्रमुख समिति ने निश्चय किया कि एक विशिष्ट प्रतिनिधि मण्डल को भारत भेजना चाहिए जो वहा जाकर सस्कृतज्ञो के मार्गदर्शन मे वेदो की पुरातन भाषा, वहां की पाण्डुलिपियो तथा योग के चमत्कारो का अध्ययन करे। इसके लिये उन्होंने न्यूयार्क की सोसाइटी के अध्यक्ष, दो सचिवो तथा दो सभासदो को चुना। १७ दिसम्बर १८७८ को इस प्रतिनिधि मण्डल ने न्यूयार्क से लंदन होते हुए बम्बई के लिये प्रस्थान किया और अपने गन्तव्य स्थल (बम्बई) पर फरवरी १८७९ में पहुंचा।

संदर्भ–३ 'ज्यो ही हमने बम्बई की धरती पर कदम रखा, हमने स्वामी दयानन्द की

एक तार देकर अपने आगमन की सूचना दे दी। क्योंकि हम उनसे प्रत्यक्ष भेंट करने के लिये अतीव उत्सुक थे। तार के उत्तर मे उन्होने हमें सूचित किया कि वे इस समय हरिद्वार जा रहे हैं जहा उस वर्ष (कुम्भ के कारण) हजारो लाखो तीर्थ यात्री एकत्र होगे। उन्होंने यह भी कहा कि हम हरिद्वार न जावें, क्योंकि वहां हैजा फूट पड़ने की पक्की संभावना है। उन्होने हमें हिमालय के पाद प्रदेश मे पजाब मे एक स्थान पर आने के लिये कहा, जहां एक मास के भोतर उनसे हमारी भेंट होनी थी।'

इस अनुच्छेद को लिख कर मैडम ने इस पर निम्न पाद टिप्पणी लिखी है — 'हा शोक, यह बात तो १८७९ की है। उसके पश्चात् तो सेतु के नीचे मे बहुत सा जल बह चुका है। एक अग्रेजी मुहावरा —

स्वामी दयानन्द का हमारे प्रति रूख बदल गया है। तब तो वे हमारे मित्र और सहयोगी थे किन्तु अब थियौसोफिकल सोसाइटी के दोनो सस्थापकों – कर्नल आल्काट तथा इद पक्तियो की लेखिका के घोषित शत्रु है। ऐसा लगता है कि थियोसोफिकल सोसाइटी से सुरक्षात्मक दोनो प्रकार का गठबन्धन करने के पश्चात् स्वामी दयानन्द को आशा थी कि सोसाइटी के सभो सदस्य – ईसाई, ब्राह्मणगत वाले तथा बौद्ध उन्हे सर्वोच्च नेता तथा शास्ता के रूप में स्वीकार कर लेगे तथा वे लोग आर्य समाज के सदस्य बन जायेगे। यह कहना अनावश्यक ही है कि ऐसा होना असम्भव ही था।

थियोसोफिकल सोसाइटी अपने सदस्यो के धार्मिक विश्वासो मे हस्तक्षेप न करने के सख्त नियम पर टिकी हुई है। इस सस्था मे सहिष्णुता की सर्वोच्च मात्रा पाई जाती है यहां तक कि थियोसोफिकल सोसाइटी पूर्णतया दार्शनिक उद्देश्यो को ही स्वीकार करती है। यह जाति, विश्वास या वर्ण (या राष्ट्रीयता) से निरपेक्ष मानवता के भ्रातृभाव के सिद्धान्त मे विश्वास रखती है तथा लोगो के व्यक्तिगत धार्मिक विश्वासो से उसका कुछ लेना देना नही है। स्वामी दयानन्द को यह अनुकूल नहीं पडता। वे चाहते हैं कि या तो सोसाइटी के सभी सदस्य उनकी अधीनता स्वीकार करें या उन्हे वहां से निष्कासित कर दिय जाय। यह स्पष्ट ही था कि न तो सोसाइटी के अध्यक्ष और न उसकी समिति को ही यह मांग स्वीकार हो सकती थी। सोसाइटी के सभी सदस्यो ने चाहे वे ईसाई, स्वतंत्र तर्क करने वाले, बौद्ध तथा विशेषतया

ब्राह्मण थे, इसके विरूद्ध विद्रोह कर दिया और आग्रह किया कि आर्यसमाज तथा सोसाइटी के गठबन्धन को भंग कर दिया जाय। यह देखकर कि उनके हाथों से सत्ता और अधिकार फिसलता जा रहा है, स्वामी दयानन्द ने सोसायटी के खिलाफ फतवा दे दिया तथा उनके साथी सहयोगी हर गली के छोर पर उसके अपशब्दो की वर्षा करने लगे। इसका परिणाम यह निकला कि आर्यसमाज में विद्यमान प्रबुद्ध तत्व ने कटटरपन्थी स्वामी से अपने सम्बद्ध तोड़ लिये और सोसाइटी से जुड़ गये। स्वामी दयान्नद हमारी सोसायटी को विश्वासहीन फिरंगियों की जमात कहते थे।

इस पादटिप्पणी पर ग्रन्थ के सम्पादक ने लिखा है– "स्वामी दयानन्द और थियोसोफिकल सोसाइटी के आरम्भिक सम्बन्धो के बारे मे कर्नल हेनेरी स्टील आल्काट ने अपनी पुस्तक ओल्ड डायरी लीब्ज खण्ड १ अध्याय २५ मे लिखा है।"

हमारा विचार– यह कहने की आवश्यकता नही कि मैडम की स्वामी दयानन्द और आर्यसमाज विषयक उपर्युक्त ठिप्पणी नितान्त भ्रामक तथा पूर्वाग्रहयुक्त है। आर्य समाज का सोसाइटी से सम्बन्ध विच्छेद किन परिस्थितियों मे हुआ, इसकी यथार्थ जानकारी के लिये द्रष्टव्य– नवजागरण के पुरोधा : दयानन्द सरस्वती का प्रासंगिक स्थल'

संदर्भ–४ "पाताल" शब्द का अर्थ अधो लोक होता है। इस शब्द के विषय में सरकृत के एक विद्वान् स्वामी दयानन्द सरस्वती ने, जिनके बारे मे मैंने अपने द्वितीय पत्र में लिखा है, एक नया रोचक अनुसधान किया है। यदि इसका समर्थन भाषा वैज्ञानिक कर देते हैं, जिसकी पूरी आशा है, तो इस शब्द के अर्थ की यह शोध और भी रोचक बन जायेगी। दयानन्द यह बताते है कि प्राचीन आर्यो को न केवल अमेरिका का पता ही था, वे वहा पर गये भी थे।[1] इसी अमेरिका को प्राचीन ग्रन्थो मे पाताल कहा गया है जिस का अर्थ होता है निम्न लोक, किन्तु कालान्तर मे पाताल का अर्थ विकृत होकर नरक वाची बन गया। स्वामी दयानन्द अपनी धारणा का समर्थन प्राचीन शास्त्रो के अनेक उद्धरणो से करते है, खास तौर से कृष्ण तथा उनके प्रिय शिष्य अर्जुन के उपाख्यानो

१— सत्यार्थ मे ऐसे प्रमाण दिये गये है जिनसे प्राचीन आर्यों का अमेरिका गमन सिद्ध होता है।

से । अर्जुन जो पाच पाण्डवों में से एक था, कि उनके बारे में प्राप्त इतिहास मे कहा गया है कि चन्द्रवंश का यह राजकुमार अपनी यात्रा के दौरान पाताल गया था और वहां के राजा नागराज की विधवा पुत्री उलोपी से विवाह किया था। पिता और पुत्री के नामों की तुलना करने से हम निम्न निष्कर्षो पर पहुचते हैं और इनसे स्वामी दयानन्द की धारणाओं की ही पुष्टि होती है।

अमेरिका के मूल निवासी मैक्सिकन इण्डियन जादूगरो को आज भी 'नागुआल' नाम से पुकारा जाता है। असीरिया और चाल्डिया के नागगलों की भाति जो वहा के मंगाई लोगों के मुखिया कहलाते थे, मैक्सिको के नागुआल भी पुरोहित और जादूगर दो के काम एक साथ अंजाम देते है। इनकी सेवा में कोई दैत्य रहता है जो प्रायः सांप या मगर का वेश धारण किये रहता है। यह उस नागुआल का वशज माना जाता है, जो सांपों का राजा था। मैक्सिको के बारे में लिखने वाले लेखक एबे ब्रासियर डि बौरबोर्ग ने अपने ग्रन्थ में पर्याप्त लिखा है। वह कहता है कि नागुअ ल दुष्टात्माओ के सेवक होते हैं और ये आत्मायें थोड़े समय तक उनकी रक्षा करती है। सस्कृत मे सांप को नाग कहते हैं और बुद्ध के इतिहास तथा पुराणो मे नागराज' का बहुशः उल्लेख मिलता है। परम्परा से यह प्रसिद्ध है कि अर्जुन ने ही पाताल लोक मे नागपूजा की प्रथा प्रचलित की थी। इस प्रकार एक ही केन्द्र पर आने वाले प्रमाण यथा नामो मे मिलने वाली समानता वस्तुतः आश्चर्यजनक है और यह आश्चर्य तब बढ जाता है जब हम देखते है कि नागराज को लेकर प्राप्त यह शब्द साम्य धरती के दो पृथक् तथा विपरीत छोरो में उपलब्ध होता है। हमारे भाषा वैज्ञानिको का ध्यान निश्चय ही इस ओर जाना चाहिये।

अर्जुन की पत्नी 'उलोपी' का नाम तो विशुद्ध प्राचीन मैक्सिकन है। अब यदि हम स्वामी दयानन्द की उपर्युक्त आपत्ति को अस्वीकार करते है तो ईसा के बहुत पूर्व सस्कृत पाण्डुलिपियों में मिलने वाले इस शब्द की कोई संतोषप्रद व्याख्या करना हमारे लिये कठिन हो जायेगा ······ इस प्रकार के शब्द साम्य को आकस्मिक बताना तो अतिवादिता ही होगी। अतः जब तक कि कोई भाषा वैज्ञानिक उपर्युक्त उपपत्ति का खण्डन न करे, स्वामी दयानन्द की उपर्युक्त धारणा को सर्वाधिक तर्क

पूर्ण मानना ही होगा। इसके अतिरिक्त स्वामी दयानन्द यह भी कहते है कि ५००० वर्ष पूर्व जब अर्जुन अमेरिका गया था तो उसका मार्ग साइबेरिया और बेरिंग्स्टेट्स होकर ही था।

स्वामी दयानन्द के द्वारा वर्णित अर्जुन उलोपी विवाह प्रसंग और भारत अमेरिका के प्राचीन सम्बन्धो की पुष्टि मे लिखी गई मैडम की उपर्युक्त टिप्पणी निश्चय ही पर्याप्त तथ्यपूर्ण एव विश्वसनीय है।

सदर्भ–४ 'प्रो० मैक्समूलर ने भारत की एक झलक भी नही देखी है, किन्तु वही एक निर्णायक की भाति बैठकर भारतीय इतिहास के कालक्रम का स्वय की धारणा के अनुसार निर्धारण करता है, और यूरोप के लोग उसके निर्णयों को देवी वाणी मानकर स्वीकार कर लेते है। इस प्रशसित जर्मन सस्कृतज्ञ द्वारा निर्धारित काल क्रम की प्रामाणिकता पर विचार करते समय मैं यह कहने से विरत नही हो सकती कि मैक्समूलर की स्थापनाये कितने दुर्बल आधार पर टिकी हुई है और जब वे इस या उस पाण्डुलिपि के लेखन काल का निर्धारण करते है तो उनके निष्कर्षो को हम विश्वसनीय क्यो नही समझने ? भारत का जो वर्णन मैं प्रस्तुत कर रही हू उस प्रसग मे शायद पाठको को मेरी यह टिप्पणी अप्रासगिक ही लगती होगी, किन्तु यह स्मरण रखना होगा कि यूरोप के अन्य देशो की ही भाति रूस के लोग भी भाषा विज्ञान के इस पण्डित (मैक्समूलर) के प्रति अत्यन्त प्रशसा भाव रखते है और इसका कारण है इस विद्वान् (मैक्समूलर) के चाटुकार अनुयायियो द्वारा व्यक्त किये गये वे प्रशसापूर्ण उद्गार जो सर्वत्र प्रचारित किये गये है।

उदाहरणार्थ, जहां तक स्वामी दयानन्द के वेद भाष्य का सम्बन्ध है प्रथम तो उसे कोई पढता नही, सम्भवत उसके बारे मे बहुत कम लोगो को जानकारी है, और इसी कारण मै प्रो० मैक्समूलर को भाग्यशाली मानती हू। मै यथा सम्भव अत्यन्त सक्षेप से एतद्विषयक मूल बिन्दुओ को प्रस्तुत करूगी।

अपने साहित्य (ग्रन्थ) मे प्रो० मैक्समूलर ने अपनी स्थापना प्रस्तुत करते हुए कहा है कि भारतवासी आर्यो को ईश्वर विषयक ज्ञान बहुत धीरे–धीरे तथा क्रमशः

प्राप्त हुआ था और ऐसा कह कर वे यह सिद्ध करना चाहते है कि वेद उतने प्राचीन नही हैं जैसा कि उनके कुछ साथियो का मानना है। अपने इस नवीन सिद्धान्त की पुष्टि मे कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण साक्षियां प्रस्तुत करने के पश्चात् वे जिस तथ्यात्मक निर्णय पर पहुचे है वह उनकी दृष्टि मे निर्विवाद है। वे मन्त्र सहिता मे प्रयुक्त शब्द "हिरण्यगर्भ" की ओर सकेत करते हैं जिसका अर्थ वे स्वर्ण करते हैं और कहते है कि वेदो का वह भाग जो छन्दस कहलाता है ३१०० वर्ष पहले प्रादुर्भूत हुआ, इसलिए मन्त्र भाग की रचना का काल २९०० वर्ष से पहले मानना ठीक नही है। इतना ही नही, वह मन्त्र भाग का भी भाषा वैज्ञानिक और कालक्रम के अनुसार विभाजन करता है। और इस मन्त्र भाग मे "हिरण्यगर्भ" शब्द के प्रयोग को देखकर मन्त्र सहिता को इससे भी अधिक प्राचीन मानने वालो के मत को असंगत कहता है और स्वयं की धारणा की विजय घोषणा करता है। उसके अनुसार प्राचीन आर्यों को स्वर्ण का कोई ज्ञान नही था, अत यदि मन्त्र मे स्वर्ण का उल्लेख है तो मानना होगा कि इस मन्त्र का रचनाकाल अपेक्षाकृत नवीन है।

किन्तु इस प्रसग में इस विख्यात सस्कृतज्ञ का मत बहुत कुछ दोष पूर्ण है। स्वामी दयानन्द और दूसरे पण्डित, यहा तक कि वे भी जो अब स्वामी जी के विरोधी है, यह सिद्ध करते हैं कि मैक्समूलर ने 'हिरण्यगभ" पद के अर्थ को पूरे तौर पर गलत ही समझा है। मूलतः 'हिरण्य' का अर्थ सोना नही होता और जब हिरण्य के साथ 'गर्भ' शब्द जुड जाता है तब भी यह उक्त और वेदो की प्राचीन सस्कृत मे यह कही नही मिलता। इस प्रकार प्रोफेसर मैक्समूलर का प्रतिभाशाली पाण्डित्य प्रदर्शन व्यर्थ गया। इस शब्द का अर्थ प्रकाश के अर्थ मे लिया जाना चाहिए जिसे रहस्यात्मक अर्थ में ज्ञान को प्रतीक कहेंगे, जिस प्रकार कि कीमियागरो की दृष्टि मे प्रकाश को सूक्ष्म स्वर्ण को प्रतीक माना जाता है जिसकी किरणो से वे स्थूल धातु को प्राप्त करने की आशा रखते हैं। "हिरण्य" के साथ 'गर्भ" पद जुड़ कर वह प्रकाशमान या 'दिव्य गर्भ' का वाचक हो जाता है जो वेद के अनुसार आद्य तत्व का सकेत देता है। जिसके गर्भ मे (जिस प्रकार स्वर्ण की स्थिति धरती के गर्भ मे होती है) दैवी ज्ञान तथा सत्य का प्रकाश रहता है। इसे ही ससार के पापो से मुक्त आत्मा का सार तत्व कहा जाता है।[1]

१– विवेचन 'हिरण्यगर्भ समवर्तताग्रे' मन्त्र के सदर्भ मे है।

आर्य शिक्षा पद्धति और स्वामी दयानन्द

डा० सत्यवीर विद्यालंकार, ७८-एम०सी० कालोनी, हिसार।

१. प्रस्तावना– सृष्टि के रचयिता परमात्मा ने इस दुनिया मे असंख्य पदार्थो का निर्माण किया है। इनमें सबसे सुन्दर तथा बुद्धिमान् रचना मनुष्य के रूप मे की है। इस मानव की योनि मे प्राणी को कर्म और भोग दोनों का अवसर मिला है जब कि और कोई योनि (रचना) ऐसी नही है। हा, उन्हे केवल भोग योनि कह सकते हैं। प्रश्न पैदा होता है कि यह मनुष्य कौन है ? 'मत्वा कर्माणि सीव्यति इति मनुष्य'' जो बुद्धिपूर्वक विचार करके काम करे वह मनुष्य है। इस मनुष्य की बुद्धि के विकास का क्या साधन है ? उत्तर है, इस मनुष्य की बुद्धि के विकास के लिए तथा उसके सम्यक् प्रयोग के लिये शिक्षा आवश्यक है, क्योंकि यही एक साधन है जो मनुष्य को ज्ञानवान् बनाकर उसे वास्तव मे मनुष्य कहलाने के योग्य बनाती है। जो मनुष्य होकर भी विद्या नहीं पढ़ा वह पशुओ के समान है। इस लिये कहा है–"विद्या विहीनः पशु[1]। अत: स्पष्ट है कि विद्या पढना प्रत्येक का कर्त्तव्य है।

२. शिक्षा की परिभाषा- स्वामी दयानन्द के अनुसार शिक्षा "जिससे विद्या सभ्यता, धर्मात्मता, जितेन्द्रियता आदि की बृद्धि होवे और अविद्या आदि दोष छूटे, उसको शिक्षा कहते है।[2] शिक्षा ग्रहण करने से मनुष्य मे अच्छे और बुरे के चिन्तन के साथ-साथ धार्मिकता आ जाती।[3] जिससे मानव का सर्वांगीण विकास अर्थात् शारीरिक विकास, मानसिक विकास तथा बौद्धिक विकास हो सके वही उत्तम शिक्षा कहलाती है।

३ शिक्षा का उद्देश्य– बालक के शरीर, मन और बुद्धि का उचित विकास के प्रकाश मे सृष्टि को समझकर उसमे अपनी भूमिका निभाने का आत्मविश्वास, अपनी आजीविका के लिये परोपजीवी बनने की अपेक्षा स्वयं आत्मनिर्भर अर्थात् अपने पैरो पर खडे होने का साहस अन्याय–अत्याचार तथा शोषण रहित समता-

---

१— नीतिशतकम्

२— स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश

३— "विद्या का फल यही है कि जो मनुष्य को धार्मिक होना अवश्य है।" व्यवहार भानु।

मूलक प्रबुद्ध समाज का निर्माण, किसी भी व्यक्ति विशेष या वर्ग विद्वेष से सर्वथा दूर रहकर सर्वभूतहित की कामना, मानवता, मानवीय मूल्य और मानवीय संवेदना का आदर सम्मान तथा अपनी राष्ट्रीयता ओर अस्मिता का उचित अभिमान तथा उपयुक्त गौरव अनुभव करना है। चिन्तन पूर्वक बुद्धि का प्रयोग करते हुए, बुद्धि विरुद्ध अन्धविश्वासो तथा प्रदर्शन व पाखण्ड से दूर रहते हुये तर्क वितर्क पूर्वक विज्ञान सम्मत विचारधारा तथा तथ्यो को ही अंगीकार करना भी शिक्षा का उद्देश्य है। गुण-दोष, सत्-असत्, हानि लाभ, कर्त्तव्य अकर्त्तव्य पाप-पुण्य का विवेक उत्पन्न करने का सामर्थ्य पैदा करना भी शिक्षा का उद्देश्य माना जाता है। अर्थात् जितने भी उत्तम गुण, कर्म, स्वभाव और पदार्थ है वे सब विद्या अथवा शिक्षा से ही प्राप्त किये जा सकते है। भाव यह है कि मनुष्य को मानसिक और बौद्धिक दोनो दृष्टियो से समर्थ बनाना ही शिक्षा का उद्देश्य है। वेद में शिक्षा का उद्देश्य बताते हुये लिखा है.-

अपामीवामप स्निधमपसेधत दुर्मतिम् ।
आदित्यासो युयोतना नोऽहस ॥[1]

छात्र अपने अखण्ड शक्ति सम्पन्न आचार्य मे प्रार्थना करता है कि आप शिक्षा के द्वारा हमारे शारीरिक रोगो व दुर्व्यसनों को हिंसा आदि की वृत्तियो मे पूर्ण मानसिक प्रवृत्तियो को, बौद्धिक अज्ञान के अन्धकार को दूर कर दीजिये। जिससे मैं पापमयी भावनाओ से सर्वथा पृथक् रहकर अच्छी शिक्षा को पाकर श्रेष्ठ मानव बन जाऊं।

विद्या की परिभाषा बतलाते हुये लिखा है 'वेत्ति यथावत्तत्व पदार्थ स्वरूप यथा सा विद्या,'[2] अर्थात् जिससे पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को बोध होवे वह विद्या कहाती है। सस्कृति का अर्थ शुभ गुणो, पवित्र संस्कारो तथा मानवीय मूल्यो का ग्रहण और अशुभ गुणों तथा कुसस्कारो का त्याग है। सभ्यता का अर्थ सद्व्यवहार तथा शिष्टता

१— सामवेद–३–९५

२— सत्यार्थप्रकाश, नवम समुल्लास

का ग्रहण तथा अशिष्टता का त्याग है। जो पक्षपात रहित, न्यायाचरण, सत्य भाषणादि युक्त आचरण है वह धर्म है। इन्द्रियो को विषयो के सुख मे न फसाना, इन्द्रियो को सर्वथा नियन्त्रण मे रखना जितेन्द्रियता कहलाती है। जिससे तत्त्व के स्वरूप का ठीक ज्ञान न हो अन्य मे अन्य बुद्धि होवे वह अविद्या है। इस अविद्या से उत्पन्न दोषों को छुडाने वाली शिक्षा कहलाती है।

विद्या के सम्बन्ध मे उपनिषद् मे कहा है — "सा विद्या या विमुक्तये,"[1] अर्थात् मानव को आवागमन के चक्र से मुक्ति दिलाने वाले साधन का नाम विद्या है। विद्या वही है जिससे मुक्ति मिल जावे। वेद मे लिखा है 'विद्ययाऽमृतमश्नुते'[2] अर्थात् विद्या से अमृत अर्थात् मोक्ष प्राप्त होता है। विद्या ग्रहण की पूर्णता के सम्बन्ध मे व्याकरण के प्रसिद्ध ग्रन्थ महाभाष्य मे लिखा है 'चतुर्भिः प्रकारैः विद्योपयुक्ता भवति, आगम कालेन, स्वाध्याय कालेन, प्रवचन कालेन, व्यवहार कालेनेति ।'[3] इसका भाव यह है कि विद्या चार प्रकार से पूरी होती है। प्रथम गुरुमुख के द्वारा पढने से विद्या का एक भाग पूरा होता है। दूसरा गुरु के द्वारा जितना पढा उतना स्वयमेव पढ़ना। तीसरा जितनी विद्या गुरु से पढी है उतना ही समय निकाल कर किसी को पढा देना। चौथा जितना गुरु से पढा है और जो पढाया है, उसको अपने व्यवहार मे क्रियान्वित करना। इन चार विधियो से विद्या की पूर्णता होती है तथा वह व्यक्ति विद्वान् कहलाने का अधिकारी बनता है। यह बात सर्वमान्य है कि शिक्षा चरित्र निर्माण, समाज निर्माण, आर्थिक एव भौतिक उन्नति का साधन है, तथापि पुरातन ऋषियो के अनुसार शिक्षा वह है जो मनुष्य के पशुत्व को मिटाकर उसे देवत्व प्रदान करे। जो मनुष्य की शारीरिक, मानसिक व भौतिक उन्नति करके उसके जीवन का सर्वांगीण विकास करें।

भाव यह है कि शिक्षा का महत्त्व सदा रहा है और रहेगा। मनुष्य के सफलता-पूर्वक जीवन यापन तथा राष्ट्रीय एव अन्तर्राष्ट्रीय सन्दर्भो से जोड़कर शिक्षा मानवता

१—

२— यजुर्वेद ४०/१४

३— महाभाष्यम्, पस्पशाह्निक

का हित सम्पादन करती है। स्वामी दयानन्द के अनुसार 'विद्या विलास मनसो धृतशील शिक्षा,"[1] विद्या के विलासी, धैर्यशील व्यक्ति पैदा करना ही शिक्षा की सार्थकता है।

४. मानव-निर्माण– मनुष्य जब तक वास्तव मे मनुष्य नही बने तब तक देश का अथवा विश्व का निर्माण करना असम्भव है। मनुष्य के ठीक प्रकार से निर्माण के बिना विश्व मे शान्ति की स्थापना की कामना करना भी व्यर्थ है। क्योंकि ससार मे जो कुछ अशान्ति या छीना झपटी मची है उसका कारण वस्तुत. मनुष्य स्वय है। कारण यह है कि ससार का जितना लाभ या हानि मनुष्य कर सकता है इतना दूसरा कोई प्राणी नही कर सकता।

यह बात ठीक है कि बाल्यावस्था मे बच्चे पर पडा हुआ छोटा सा सस्कार भी अमिट रहता है और वह यौवनावस्था मे बहुत दृढ बन जाता है। यही कारण है कि बचपन को उत्तम बनाने के लिए १६ मे से ११ सस्कार बचपन मे करने का विधान किया गया है। ऋषियो ने मानव जीवन के आधार शिशु जीवन' को सुन्दर एव पवित्र बनाने की तरफ पूरा ध्यान दिया था। जब बचपन की प्रत्येक क्रिया पर विशेष ध्यान दिया जाता था तभी मनुष्य का ठीक निर्माण होता था। यह मानव निर्माण की प्रक्रिया आर्य प्रणाली के अन्तर्गत आश्रम जीवन पद्धति मे ही निहित है। यहा के जीवन मे वेद शास्त्र आदि की आस्तिकता, सात्विकता तथा सयम का प्रभाव बालकों के मन तथा बुद्धि पर डाला जाता है। वेद मे लिखा है, 'मनुर्भव,'[2] अर्थात् हे बालक तू उत्तम विद्या को प्राप्त करके मनुष्य के लिए उपयोगी सब गुणो को धारण करके अच्छा मनुष्य बन। राष्ट्र को सब प्रकार की उन्नति के लिये मनुष्य के निर्माण की सर्वप्रथम आवश्यकता है।

५. पात्रता या दीक्षा- वैसे तो विद्या पढने का सबको अधिकार है तथापि पात्र (योग्य) को ही विद्या पढानी चाहिये। पात्रता अर्थात् शिक्षा ग्रहण करने के योग्य

१— सत्यार्थप्रकाश. तृतीय समुल्लास

— ऋग्वेद १०/

या पात्र बनना। यह शिक्षा ग्रहण करने से प्रथम आवश्यकता है। शिक्षा तो ज्ञान विज्ञान का प्रकाश है। यह विद्या का प्रकाश द्विविधा तथा भ्रान्ति से रहित हो और इसमें किसी भी प्रकार की मलिनता या धुन्धलापन न आवे इसलिये पूर्ण विद्वान् आचार्य के पास ही विद्या ग्रहण करनी चाहिये। जिस गुरु को स्वयं स्पष्ट ज्ञान नहीं है, वह शिष्य को क्या सिखायेगा ? इस सन्दर्भ में एक कहावत प्रचलित है- "गुरु कीजे जान पानी पीजे छान।" अर्थात् अच्छे गुरु की खोज करनी चाहिये, न कि किसी को गुरु धारण करे। इस कार्य में माता पिता या अभिभावक सहायक होते हैं। सम्भवत. यही कारण था कि गुरुओं की प्रसिद्धि होती थी तथा गुरु परम्परा का विशिष्ट महत्व चलता था।

विद्या प्रदान करने के लिए शिक्षा से पहले दीक्षा आवश्यक है। बिना दीक्षित हुये जो शिक्षा प्राप्त की जाती है, वह अपवित्र पात्र में पवित्र वस्तु डालने के समान अपवित्र हो जाती है। इसलिये गुरु आश्रम मे प्रवेश के समय ही उपनयन संस्कार तथा वेदारम्भ संस्कार के द्वारा सर्वप्रथम छात्र को दीक्षा दी जाती है। इस दीक्षा के सम्बन्ध मे मनु ने लिखा है—

उपनीय गुरु.शिष्य शिक्षयेच्छौचमादितः।
आचार मग्नि कार्यं च सन्ध्योपासन मेव च ॥[1]

इसका भाव यह है कि सबसे पहले आचार्य अपने भावी शिष्य का यज्ञोपवीत संस्कार करे और उसके बाद उसको शुद्धि का ढंग सिखाये। छात्र को शारीरिक शुद्धि के साथ, वाचिक और मानसिक शुद्धि के द्वारा उसके मन, वचन तथा क्रिया कलाप अथवा कर्म में शुद्धि लावे। उसके आहार-विहार अर्थात् भोजन तथा रहन-सहन के सब दोषो का निवारण करके उसे सदाचार पूर्वक जीवन व्यतीत करने की शिक्षा देवे। इसके पश्चात् उसको सन्ध्या, उपासना तथा यज्ञ आदि की शिक्षा देवे। ईश्वर जो सबका परमगुरु है व विद्या और बुद्धि का प्रदाता है, इसलिये उसकी उपासना की पद्धति सिखलाये। छात्र की बुद्धि और विवेक उत्पन्न करने के लिये यम तथा नियम

१-- मनुस्मृति-२-६९

आदि की शिक्षा देवे । आचार्य यास्क ने शिक्षा के इस रहस्य को निम्नलिखित प्रकार से प्रकट किया है–

विद्या वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि ।
असूय कायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम् ॥

यमेव विद्याः शुचिमप्रमत्तं मेधाविन ब्रह्मचर्योपपन्नम् ।
यस्ते न द्रुहयेत् कतमच्चनाह तस्मै मा ब्रूया निधिपाय ब्रह्मन् ॥[1]

आचार्य यास्क कहते है कि योग्य शिष्य को ही विद्या पढाने से विद्या की सफलता है। यहा आलकारिक रूप मे योग्य शिष्य का वर्णन किया है। वास्तव में ब्राह्मण का अक्षय कोष विद्या होती है। उस योग्य शिष्य को पढाना चाहिये जो मनसा, वाचा कर्मणा शुद्ध हो, कुटिलतादि दोषो से रहित हो, मेधावी, जितेन्द्रिय हो, द्रोह बुद्धि न रखता हो, गुणो मे दोषारोपण की बुद्धि न रखता हो, सरल स्वभाव का हो, गुरूभक्त हो और विद्या प्राप्ति के लिए यत्न करने वाला हो। इसीलिये शिष्य के लिये एक सुन्दर शब्द का प्रयोग प्राचीन शास्त्रो मे मिलता है– "जिज्ञासु।" जिसमे कुछ सीखने अभ्यास करने की उत्कट इच्छा हो उसको सिखाने से ही लाभ होना सम्भव है और वही कुछ सीख भी सकता है।

यह तथ्य है कि विद्या कभी गुरु द्वारा घोटकर नही पिलायी जा सकती। इस पर भी इतना अवश्य है कि जिज्ञासु को सरलता से कम परिश्रम में ही बहुत अधिक सिखाया जा सकता है। छात्र को जिज्ञासु बनाना ही दीक्षा का तात्पर्य है। इसके साथ ही इस कथन मे तनिक भी सन्देह नही कि पात्र को दी हुई विद्या फलती–फूलती है तथा कुपात्र को विद्यादान की कोई उपयोगिता नही। शास्त्रो के अनुसार "सर्वषामेव दानानां ब्रह्मदान विशिष्यते" अर्थात् विद्या दान सर्वश्रेष्ठ दान है। तथापि यह विद्या का दान पात्र को ही देना श्रेयस्कर है। इस कथन का तात्पर्य किसी पर विद्या ग्रहण की पाबन्दी लगाना या किसी को विद्या अध्ययन से रोकना नहीं है।

१— निरुक्त २-४

उपर्युक्त से स्पष्ट होता है कि वैदिक शास्त्रों में विद्या पढ़ने का अधिकार तो मानव मात्र को उसी प्रकार है, जिस प्रकार परमेश्वर प्रदत्त वायु, जल, भूमि आदि पर सबको समान अधिकार है। फलत. यह पौराणिक मान्यता सर्वथा अवैदिक है कि स्त्रियों व शूद्रों को वेदादि शास्त्रों को पढ़ने का अधिकार नहीं है। किन्तु जन्म किसी भी कुल में हुआ हो, विद्या का अधिकारी वही है, जो शिक्षा प्राप्ति से पूर्व दीक्षा को प्राप्त कर लेता है। बिना दीक्षा के किसी भी कुल में उत्पन्न शिष्य को कदापि नहीं पढ़ाना चाहिए।

६. प्रारम्भिक परीक्षा : जिज्ञासु छात्र की यह परीक्षा गुरु के द्वारा प्रारम्भ में ही ली जाती थी। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि जो शिष्य बनकर पढ़ने के लिए गुरुकुल में प्रवेश लेना चाहता है, उसकी गुरु क्या परीक्षा लेता होगा ? स्पष्ट है कि यह प्रवेश के समय ली जाने वाली परीक्षा किसी विषय विशेष की जानकारी से सम्बन्धित न थी अपितु प्रवेशार्थी की पात्रता की परीक्षा थी। इस समय शिष्य के गुरु के प्रति समर्पण भाव की परीक्षा ली जाती थी। प्रत्येक प्रवेशार्थी को इस परीक्षा से गुजरना पड़ता था, क्योंकि गुरु भी वर्तमान काल की भांति हर एक को न तो प्रवेश देते थे और न पढाते थे। इस समय फीस के लोभ से प्रवेश नहीं दिया जाता था, अपितु विद्या पढ़ाने के लिये प्रवेश दिया जाता था। गुरुजन पूर्ण रूप से परीक्षा करके ही शिष्य के लिए अपने अगाध ज्ञान के भण्डार को उद्घाटित करते थे। इस विषय में आचार्य यास्क ने लिखा हैं—

नावैयाकरणाय, नानुपसन्नाय, अनिदविदे वा नित्य ह्यविज्ञासुर्विज्ञानेऽसूया।
उपसन्नाय तु निब्रूयात् यो वाऽलं विज्ञातुं स्यात् मेधाविने तपस्विने वा ॥[1]

अर्थात् जो व्याकरण का ज्ञाता न हो, जो गुरू के पास आकर न सीखना चाहता हो, जो इस निरूक्तशास्त्र को समझने की योग्यता न रखता हो। उसे विद्या न दे क्योंकि विद्या प्रसंग में मूर्ख की सदा निन्दा होती है। जो गुरु के पास श्रद्धा, भक्ति से आया हो और जो मेधावी हो ऐसे शिष्य को ज्ञान देना चाहिए।

१— निरूक्त २—१

७. उपाध्याय तथा आचार्य : पुरातन शिक्षा पद्धति का विश्लेषण करने से पता चलता है कि शिक्षा प्रदान करने वाले गुरुओं की भी श्रेणी बनी होती थी। यह श्रेणी या विभाजन उनकी योग्यता के आधार पर होता था। इसमें किसी विशेष स्थान पर रहने या राजदरबार आदि में रहने अथवा अन्य किसी प्रकार की भौगोलिक परिस्थिति में रहने से तात्पर्य नहीं था, यह तो केवल विशुद्ध योग्यता पर आधारित था। इसीलिये साधारण शिक्षक के लिये उपाध्याय और विशेष योग्यता वाले शिक्षक के लिये आचार्य शब्द का प्रयोग किया जाता था। इसी प्रकार गुरुकुल, आचार्यकुल तथा आश्रम आदि शब्द भी अलग–अलग स्थिति के शिक्षणालयों के सूचक थे। उक्त प्रकार के गुरु विद्वान् तथा हितकारी होते थे। स्वामी जी ने इस प्रकार के विद्वान् के सम्बन्ध में लिखा है— "विद्वान्" नाम उसका है जो अर्थ सहित विद्या को पढ़के वैसा आचरण करे, कि जिससे धर्म, अर्थ काम, मोक्ष और परमेश्वर की प्राप्ति यथावत् हो सके। इसी को स्थिरमति कहते हैं। ऐसा जो विद्वान् है वह ससार को सुख देने वाला होता है। उसको कोई भी मनुष्य दुःख नहीं दे सकता, क्योंकि जिसके हृदय में विद्या सम सूर्य प्रकाशित हो रहा हो, उसको दुःख रूप चोर दुःख कभी नही दे सकता।"[1]

८. उपाध्याय का लक्षण : प्राचीन काल में भी गुरु के लिए अपने परिवार के भरण पोषण हेतु कुछ धन कमाना पड़ता था। ऐसे गुरु किसी एक विषय के विद्वान् होते थे, जो छात्रों को पढा कर बदले में दक्षिणा स्वरूप कुछ धन लेते थे। इस धन की व्यवस्था राज्याश्रय से संस्था के आचार्य को करनी पड़ती थी। ऐसे शिक्षक के लिए उपाध्याय शब्द का प्रयोग प्रचलित था। मनुस्मृति में लिखा है—

> एकदेशं तु वेदांगान्यपि वा पुनः।
> योऽध्यापयति वृत्यर्थम् उपाध्यायः स उच्यते॥[2]

इसका तात्पर्य है कि जो जीविका के लिए वेद के किसी एक भाग या अंश को या फिर वेदांग शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द, निरुक्त और ज्योतिष पढ़ाता है, वह उपाध्याय कहलाता है।

१– ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका, पठनपाठन विषयः।

२– मनुस्मृति २.१४१

९. आचार्य का लक्षण : आचार्य शब्द की व्याख्या करते हुए यास्क ने लिखा है—

आचार्यः कस्मात् ? आचारं ग्राहयति, आचिनोत्यर्थान्, आचिनोति बुद्धिमिति वा ।[1]

अर्थात् जो सदाचार की शिक्षा देता है जो शब्द अर्थ के सम्बन्ध को बताकर पदों के अर्थों का बोध कराता है और जो शिष्य की बुद्धि का विकास कराकर ज्ञानार्जन कराता है वह आचार्य कहलाता है। स्वामी जी ने आचार्य की परिभाषा अपने कई ग्रन्थों मे की है। उनके अनुसार जो श्रेष्ठ आचार को ग्रहण कराके सब विद्याओं को पढ़ा देवे, उसको आचार्य कहते हैं।[2] वह मानते हैं कि "जो सांगोपांग वेद विद्याओं का अध्यापक, सत्याचार का ग्रहण और मिथ्याचार का त्याग करावे वह 'आचार्य' कहाता है।"[3] आगे वह लिखते हैं "जो विद्यार्थियों को अत्यन्त प्रेम से धर्मयुक्त व्यवहार की शिक्षा पूर्वक विद्या देने के लिए तन, मन और धन से प्रयत्न करे उसको आचार्य कहते।[4] ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका में कहा है "आचार्य उसको कहते हैं कि जो असत्याचार को छुड़ाके सत्याचार का और अनर्थों को छुड़ा के अर्थों का ग्रहण कराके ज्ञान को बढा देता है।"[5] वह लिखते हैं कि आचार्य उसको कहते हैं कि जो सांगोपाग वेदों के शब्द अर्थ सम्बन्धों और क्रिया ज्ञान के द्वारा, छल कपट रहित अतिप्रेम से सबको विद्या का दाता, परोपकारी तन, मन और धन से सबको सुख बढाने मे तत्पर, महाशय, पक्षपात किसी का न करे और सत्योपदेशक सबका हितैषी, धर्मात्मा, जितेन्द्रिय होवे।[6] मनु जी ने आचार्य का निम्नलिखित लक्षण किया है—

उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः ।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते ॥[7]

१— निरुक्त १—३
२— आर्योद्देश्यरत्नमाला
३— स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश
४— व्यवहारभानु
५— ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका, वर्णाश्रमविषय
६— आर्योद्देश्यरत्नमाला
७— मनुस्मृति २.१४०

अर्थात् जो यज्ञोपवीत कराके कल्प सूत्र और वेदान्त सहित शिष्य को वेद पढ़ावे उसको आचार्य कहते हैं। ऐसे आचार्य को वह पिता से भी बड़ा मानते हैं, इसलिये लिखते हैं—

> य आवृणोत्य वितथ ब्रह्मणा श्रवणावुभौ ।
> स माता स पिता ज्ञेयस्तेन न द्रुहयेत्कदाचन ।।[1]

अर्थात् गुरू या आचार्य वेदज्ञान के द्वारा दोनो कानों को भलीभांति परिपूर्ण करता है, उसे माता–पिता समझना चाहिये और उससे कभी द्रोह भी न करें।

१०. गुरू कैसे हों : हमारे देश में आदि काल से ही गुरुशिष्य परम्परा चली आ रही है। जो सन्तान को शिक्षा देने के साथ-साथ माता–पिता की तरह ममता तथा प्यार देने में समर्थ हों, जिस प्रेमपूर्ण व्यवहार के कारण बालक को अकेलापन अनुभव न हो, इस प्रकार अपने उत्तरदायित्व को पूर्ण निष्ठा एवं आस्था पूर्वक निर्वाह करने वाले व्यक्ति को 'गुरु' कहा जाता है। ऐसा गुरु बालक का केवल बौद्धिक विकास ही नहीं करता अपितु अपने व्यवहार तथा आचरण के द्वारा अपने शिष्य को सदाचारी तथा योग्यतम नागरिक बनाते हुए उसकी शारीरिक तथा आत्मिक शक्ति का भी विकास करता है।

वैदिक साहित्य में शिष्य को 'अन्तेवासी' शब्द से अभिहित किया गया है। विद्या की प्राप्ति के लिए अन्तेवासी के लिये गुरु के सान्निध्य में रहकर विद्याभ्यास करना अत्यावश्यक है। गुरु तथा शिष्य के इस अति निकट सम्बन्ध के रहस्य के विषय में वेद का निम्नलिखित मन्त्र समुचित प्रकाश डालता है—

> आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः ।
> तं रात्रीस्तिस्रः उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभि संयन्ति देवाः ।।[2]

इसका भाव यह है कि आचार्य अपने शिष्य का उपनयन संस्कार करके उसे (शिष्य को) तीन रात्रि तक अपने उदर में धारण करता है। अर्थात् जैसे जन्म देने

१— मनुस्मृति २.१४४

२— अथर्ववेद, काण्ड–११, सूत्र–५

वाली माता अपने गर्भस्थ शिशु की रक्षा के लिए प्रतिपल सजग रहती है तथा इस गर्भस्थ बालक को सम्भालने के सम्बंध में किंचित् भी असावधानी नहीं करती है, उसी प्रकार शिष्य का संरक्षण भी प्रतिक्षण करना परम आवश्यक है, जब तक कि उसका सम्पूर्ण अज्ञान दूर न हो जाये। यहां तीन रात्रि शब्द से अभिप्राय मनुष्य के तीन प्रकार के अज्ञान से है। अर्थात् प्रथम बौद्धिक अज्ञान, द्वितीय आध्यात्मिक अज्ञान तथा तृतीय आधिभौतिक अज्ञान-ये ही तीन रात्रियां हैं। इसे और अधिक स्पष्ट कहें तो यों कह सकते है कि जब तक उक्त तीनों प्रकार के तत्वों का सम्यक् ज्ञान होकर अज्ञानता दूर न हो तब इन तीनों का अज्ञान मनुष्य को रहता है। अतएव हर समय गुरु और शिष्य का निकट सम्बन्ध होना अत्यावश्यक है। जैसे माता को गर्भस्थ बच्चे का पल-पल ध्यान रखते हुये कार्य करना होता है वैसे ही गुरु को भी अपने प्रिय शिष्य का २४ घण्टे बराबर ध्यान रख कर विकास करना होता है। स्वामी दयानन्द ने शिष्य की परिभाषा करते हुये लिखा है "शिष्य उसको कहते है जो सत्य शिक्षा और विद्या को ग्रहण करने योग्य, धर्मात्मा, विद्या ग्रहण की इच्छा और आचार्य का प्रिय करने वाला है।"[1]

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि जिस प्रकार से गुरु अपने शिष्य का सर्वविध कल्याण हेतु चिन्तन एवं कार्य करे उसी प्रकार शिष्य को भी गुरु के प्रति निष्ठा पूर्वक प्रिय आचरण करना आवश्यक है। स्पष्ट है कि गुरु न केवल बौद्धिक पुस्तकीय ज्ञान ही करवाता है, वरन् शिष्य का सर्वांगीण विकास करवा कर ज्ञान विज्ञान के साथ-साथ सच्चरित्र बनने की शिक्षा भी देता है। इस प्रकार योग्य, सुशिक्षित, चरित्रवान् नागरिकों का निर्माण होकर राष्ट्र का निर्माण होता है। अत एव गुरु और शिष्य का सान्निध्य होना तथा इसके लिए ग्राम अथवा नगर स्वच्छ एवं शुद्ध वातावरण से युक्त आश्रम में ही रहना आवश्यक है। इस शान्तिमय तथा प्रदूषण रहित वातावरण के सम्बन्ध मे वेद का निम्नलिखित मन्त्र है—

"उपह्वरे गिरीणां संगमे च नदीनाम्। धिया विप्रो अजायत ॥"[2]

१— स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश

२— ऋग्वेद ८/६/२८

अर्थात् पर्वतों की उपत्यकाओं में नदियों के किनारे शान्त तथा दूषण रहित स्थान में विद्यालयों की स्थापना होनी चाहिये क्योंकि ऐसे एकान्त स्थान में ही बुद्धि का समुचित विकास होता है।

११. अनिवार्य शिक्षा : इस बात की सभी बुद्धिमान् लोग स्वीकार करते हैं कि शिक्षा से स्त्री और पुरुष दोनों का कल्याण होता है। इसलिए लड़के और लड़की दोनों के लिये शिक्षा अनिवार्य होनी चाहिए। दोनों के सर्वांगीण विकास से ही सारे समाज का तथा विश्व का कल्याण हो सकता है। पुरातन काल में बालक तथा बालिकाओं की शिक्षा पर समान रूप से ध्यान दिया जाता था, परन्तु कालान्तर में यह व्यवस्था गड़बड़ा गयी। भारतीय समाज के पतन का यह मुख्य कारण था। स्वामी जी का सबके लिये अनिवार्य शिक्षा के सम्बन्ध में यह कथन विचारणीय है 'राजनियम और जातिनियम होना चाहिये कि पांचवें वा आठवें वर्ष से आगे कोई अपने लड़के वा लड़कियों को घर में न रख सकें। पाठशाला में अवश्य भेज देवे, जो न भेजे वह दण्डनीय हो।"[1] शिक्षा को सबके लिये अनिवार्य करने के सम्बन्ध में आगे लिखते हैं "राजा को योग्य है कि सब कन्या और लड़कों को उक्त समय तक ब्रह्मचर्य में रख के विद्वान् कराना, जो कोई इस आज्ञा को न मांनें तो उसके माता-पिता को दण्ड देना, अर्थात् राजा की आज्ञा से आठ वर्ष के पश्चात् लड़का वा लडकी किसी के घर में न रहने पावें, किन्तु आचार्य कुल में रहे जब तक समावर्तन का समय न आवे तब तक विवाह न होने पावे।[2]

१२. गुरु और शिष्य सम्बन्ध : गुरु और शिष्य के आदर्श सम्बन्धों का वर्णन रामायण, महाभारत और उपनिषद् आदि ग्रन्थों में मिलता है। महर्षि विश्वामित्र एवं राम का, धौम्य ऋषि तथा आरुणि का, सन्दीपनि और कृष्ण का, यम और नचिकेता का द्रोणाचार्य तथा अर्जुन का बलराम और भीम का आदर्श सम्बन्ध था। विरजानन्द और दयानन्द का सम्बन्ध भी ऐसे ही आदर्श गुरु शिष्यों की नामावली में सुशोभित है। इनके लिए गुरू की आज्ञा प्रत्येक स्थिति में शिरोधार्य थी। ये सब

१— सत्यार्थप्रकाश, तृतीय समुल्लास
२— वही

एक दूसरे के लिये समर्पित होकर विद्या का आदान प्रदान करते थे, इसीलिये विद्या भी चरितार्थ और फलितार्थ होती थी। गुरु और शिष्य के पवित्र सम्बन्ध के विषय में कहा जा चुका है कि दोनों का अति निकट रहना अत्यावश्यक है। गुरु के द्वारा यज्ञोपवीत अथवा वेदारम्भ संस्कार करने से लेकर समावर्तन संस्कार अर्थात् स्नातक बनने तक, छात्र के लिए गुरु आश्रम में ही रहना अनिवार्य है। यह निरन्तर आश्रम में रहने की व्यवस्था छात्र की निरन्तर अहर्निश होने वाली प्रगति की सूचक है। यदि एक बार प्रगति रुक गई तो जैसे पहाड़ की ऊँचाई पर चढ़ती हुई गाड़ी एक बार रुक जाने पर पुनः ऊपर की ओर बढ़ाने के लिए बहुत अधिक जोर लगता है, वैसे ही कोई व्यवधान आने पर अथवा पाठ के छूट जाने पर पुनः प्रारम्भ करने में बड़ी कठिनाई आती है। यही कारण है कि विद्या अध्ययन को तप कहा गया है— "विद्याऽध्ययनं तपः।"[1] इस तपस्या में किसी प्रकार की गड़बड़ी न हो, वह टूट न जाये, इसके लिये बड़ा ध्यान रखना पड़ता है और तदनुकूल ही वातावरण बनना आवश्यक है। आदर्श गुरु-शिष्य परम्परा की मुख्य बातें इस प्रकार हैं—

(क) जब तक पूर्ण विद्या न हो, अर्थात् शिष्य अपने विषय का पूर्ण विद्वान् न बन जावे तब तक अवकाश पर न जावे, आश्रम में ही रहे। उसके व्यय आदि का सारा प्रबन्ध वहीं पर कर दिया जावे जहाँ पर वह पढ़ता हो। भ्रमणार्थ बाहर जाने की आवश्यकता पड़ने पर भी गुरु के निरीक्षण में ही बाहर जावे अन्यथा नहीं।

(ख) छात्र को अपने गुरु के विपरीत व्यवहार भूल कर भी नहीं करना चाहिये। यदि छात्र गुरु के प्रतिकूल व्यवहार करेगा तो दोनों का सम्बन्ध खराब हो जायेगा। जब शिष्य का कार्य गुरु की आज्ञा के विरुद्ध होगा तो गुरु के मन में भी शिष्य के कल्याण की पवित्र कामना न होगी।

(ग) छात्र के पालन पोषण, निर्माण तथा सर्वांगीण विकास का उत्तरदायित्व गुरु का ही होना चाहिए।

१— तैत्तिरीय उपनिषद्

(घ) गुरु के सुख में सुखी और दुःख में दुःखी, गुरु की उन्नति तथा यश में छात्र की उन्नति और उसका यश निहित है। गुरु और शिष्य का यह सम्बन्ध कुछ अंशो में माता पिता से भी अधिक हो जाता है।

(ङ) जैसे [illegible] से पिता का गोत्र चलता है, वैसे ही विद्या से गुरु का गोत्र चलता है।

(च) बहुत-सा ज्ञान का भाग ऐसा होता है जो पुस्तकों से प्राप्त नही होता, अपितु गुरु के अनुभव से और उसके निजी अभ्यास से होता है। गुरु–शिष्य परम्परा के अभाव में ज्ञान-विज्ञान की बहुत सी उच्चकोटि की बाते लुप्त हो गई। अनेक लोग जो अपनी कला में पारगत थे, परन्तु आगे उन्होंने किसी शिष्य को वह कला या विद्या नही सिखायी, इस कारण वह उनकी मृत्यु के साथ ही समाप्त हो गयी।

(छ) सच्चे गुरु का शिष्य होना गौरव की बात मानी जाती रही है। उस गुरु के आशीर्वाद की अभिलाषा प्रत्येक के मन में रहती है।

(ज) जहां गुरु और शिष्य का प्रगाढ सम्बन्ध होता है, वहां साथ ही गुरु भाइयो का प्रेम भी अपने आप मे महत्वपूर्ण बात है। उनमें ईर्ष्या द्वेष न होकर आगे बढने की स्पर्धा होती है।

(झ) गुरु और शिष्य की आत्मीयता के कारण ही तो गुरु का कुल "गुरुकुल" कहा कहा जाता है। जहां परस्पर आत्मीयता नहीं वहा गुरुकुल या गुरु का "आश्रम" कैसा ?

(ञ) शिष्य के लिये गुरु की आज्ञा पालन अनिवार्य होता है। इसी प्रकार गुरु को भी अपने शिष्य पर पूरा विश्वास होता है कि वह आदेश को अवश्य मानेगा।

(ट) गुरु के प्रति शिष्य के मन में अत्यधिक श्रद्धा होनी चाहिये, क्योकि "श्रद्धया विन्दते वसु।"[1] अर्थात् श्रद्धा से ही ज्ञान की प्राप्ति होती है।

१— ऋग्वेद १०/१५१/४

१३. तपस्वी जीवन : यह सत्य है कि विद्या पढ़ने के लिए बहुत कष्ट उठाना पड़ता है। अपने आपको नियमो में बांधकर मर्यादाओं का पालन करना पड़ता है। इसलिए उपनिषद् मे कहा है "विद्याऽध्ययनं तपः।" अर्थात् विद्या पढ़ना एक तप है। गुरुकुल के जीवन में तपस्वी होना छात्र का आभूषण माना जाता है। सादे वस्त्र धारण करना, शुद्ध खान-पान करना, किसी भी प्रकार का नशा सेवन न करना, तमोगुणी तथा रजोगुणी वस्तुओं का सेवन न करके केवल सात्विक पदार्थों का सेवन करना। भड़कीले पदार्थों तथा चमक-दमक वाले वस्त्रों को न पहनना, चमड़े के मुलायम जूते न पहनना, छाता धारण न करना, गर्मी-सर्दी को सहन करने का अभ्यास डालना, सदाचार के नियमों का पालन करना तथा यम और नियमों को अपने जीवन में ढालना—यह एक प्रकार का तप हैं। क्योंकि जितेन्द्रिय बनकर शिक्षा ग्रहण करना ही तपस्या है। जो छात्र तपस्या से घबराकर पलायन करना चाहता है, वह विद्या पढ़ने के योग्य नही है। इसलिए यह श्लोक प्रसिद्ध है—

सुखार्थिनः कुतो विद्या कुतः विद्यार्थिनः सुखम्।
सुखार्थी वा त्यजेद् विद्या विद्यार्थी वा त्यजेत् सुखम् ॥[1]

तात्पर्य यह है कि जो सुख चाहता है अथवा सुख से रहता है, उसे विद्या की प्राप्ति नही हो सकती। यदि सुखार्थी को विद्या मिलती तो इस संसार के सब धनवान् व्यक्ति विद्वान् बन जाते तथा गरीब तो पढ़ ही नही पाते। तपस्या क्या है ? इस बात को बहुत से लोग नही समझते। एक पैर पर खड़ा रहना, धूप मे खड़ा होना पानी में खड़ा होना, आंखे फाड़े देखते रहना, अग्नि तपा कर बैठना तथा आवश्यकतानुसार भोजन न करना या वस्त्र धारण न करना इत्यादि पाखण्ड को शास्त्रकारो ने तप नहीं माना है। योग दर्शन मे तप की परिभाषा है "द्वन्द्व सहन तपः।[2] अर्थात् अपने कर्त्तव्य का पालन करते हुये सुख—दुःख, लाभ हानि, मान अपमान, सर्दी-गर्मी, उत्थान पतन आदि द्वन्द्वों को सहन करना ही तप है। जीवन के निर्माण के लिए साधना करना तथा लौकिक विषयो मे लिप्त न होना ही छात्र का तप है। मनु ने तपस्या का

१— महाभारत
२— योगदर्शनम्

लाभ बताते हुये लिखा है— "तपसा किल्बिषं हन्ति।[1] इसी क्रम में आगे लिखते हैं— "विद्या तपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुद्धयति।"[2] अर्थात् तपस्या से जीवात्मा के दुर्व्यसनों का नाश होकर शुद्धि होती है।

तपस्या का दूसरा लाभ यह है कि तपस्वी व्यक्ति आत्मनिर्भर होता है। वह अपने जीवन मे कठिन परिस्थितियों में भी घबराता नहीं और दृढ़ता के साथ उनको मुकाबला करता है। ऐसा व्यक्ति साहसी, निर्भीक तथा प्रत्येक क्षेत्र में उन्नति करने वाला होता है। चाहे वह क्षेत्र कला, विज्ञान, अध्यात्म अथवा राजनीति का हो या कोई और हो।

१४. **ब्रह्मचर्य का पालना** : ब्रह्म–अर्थात् वेद ज्ञान अथवा ईश्वर को जानने का व्रत लेना ही ब्रह्मचर्य है। इसी को हम सदाचार का पालन कहते हैं। मानव जीवन को बनाने वाला प्रथम आश्रम भी ब्रह्मचर्य कहलाता है। यह मानव जीवन की नींव होती है। यह ब्रह्मचर्य रूपी नींव जितना दृढ़ एवं विकसित होगी, उतना ही मानव जीवन रूपी भवन दृढ़ व स्वस्थ रह सकेगा। ब्रह्म नाम वीर्य का भी है, उसकी रक्षा करना भी ब्रह्मचर्य है। वीर्य शरीर का राजा है, उसकी रक्षा करने से शारीरिक तथा बौद्धिक विकास होकर विद्या ग्रहण करने की सामर्थ्य बढता है। इसलिए ब्रह्चर्य अवस्था में इसके विनाशक व विरोधी अवगुणों का त्याग करना परमावश्यक है।

आर्ष शिक्षा पद्धति के अनुसार चलने वाले आश्रमों मे ब्रह्मचर्य का पालन करना प्रत्येक विद्यार्थी के लिये आवश्यक होता है। कारण यह है कि छात्र, छात्राओं के जीवन का निर्माण और उसका आधार ब्रह्मचर्य के पालन पर निर्भर होता है। ब्रह्मचर्य का पालन करना है, अतः सब प्रकार के व्यसनों से बचना भी अत्यावश्यक है। छात्र को अपनी विचार धारा पवित्र रखनी है, क्योंकि दूषित विचार ब्रह्मचर्य के सबसे बड़े शत्रु हैं।

ब्रह्मचर्य के पालन के लिये योगाभ्यास भी आवश्यक है। योग का अभ्यास व्रत–

१— मनुस्मृति– १२/१०४
२— वही, ५/१०६

पालन मे सहायक होता है। आश्रम मे रहने वाले छात्र–छात्राओं के लिये जब तक वे पढ़े और पढ़ लिख कर स्नातक बनें, तब तक विवाह करना मना होता है। ब्रह्मचर्य के पालन का यह लाभ है कि इससे शरीर हृष्ट–पुष्ट होता है तथा शरीर के सब धातुओं को यथेष्ट विकास होता है। आश्रम में रहने वाले छात्र को ब्रह्मचारी तथा छात्रा को ब्रह्मचारिणी कहा जाता है — यह सम्बोधन श्रेष्ठ है। मर्यादा पुरुषोत्तम रामचंद्र, यतिवर लक्ष्मण तथा योगिराज कृष्ण जैसे महान् पुरुष ब्रह्मचर्य का पालन करके ही सयमी और इतने महान् बने थे। ब्रह्मचर्य का पालन करके हनुमान् और भीष्म पितामह जैसे बलिष्ठ तथा बुद्धिमान् बने। ब्रह्मचर्य का पालन करके स्वामी दयानन्द अद्वितीय तार्किक बुद्धिमान्, बलवान्, योगी तथा समाज सुधारक बने थे। ब्रह्मचारी अपना, समाज का, राष्ट्र का और विश्व का कल्याण कर सकता है। अथर्ववेद में ब्रह्मचर्य की महिमा का वर्णन करते हुये लिखा है :"ब्रह्मचर्येण तपसा देवामृत्युमपाघ्नत,"[1] अर्थात् ब्रह्मचर्य के तप से देवताओं ने मृत्यु पर भी विजय प्राप्त की। पाचवे समुल्लास मे स्वामी जी ने ब्रह्मचर्य की अमोघ शक्ति का वर्णन करते हुये लिखा है-- "जो विद्या और धर्म की उन्नति करना चाहे वह विवाह न करे। क्योंकि जो ब्रह्मचर्य से ही संन्यासी होकर जगत् को सत्य शिक्षा करके जितनी उन्नति कर सकता है, उतनी गृहस्थ वा वानप्रस्थ करके संन्यासाश्रमी नहीं कर सकता।"[2] आगे स्वामी जी कहते है कि ' जो पूर्ण विद्वान् जिते न्द्रिय विषयभोग की कामना से रहित परोपकार करने की इच्छा से युक्त पुरुष हो वह ब्रह्मचर्य से सन्यास लेवे।'[3]

जिस प्रकार साईकिल या मोटर गाड़ी के पहिये की हवा निकल जाने पर सवारी नही की जा सकती, जिस घड़े के नीचे छिद्र हो वह खाली हो जाता है, जिस लकड़ी के घुन लग जाये वह स्वय समाप्त हो जाती है उसी प्रकार वीर्य क्षीण की क्षति होती है। ब्रह्मचर्य रक्षा के लिये कहा है।

"आहारस्य परं धाम शुक्रं तद्रक्ष्यमात्मनः।
क्षयोह्यस्य बहून् रोगान् मरणं वा नियाच्छति॥"[4]

१— अथर्ववेद– ११/५/१९
२— सत्यार्थप्रकाश, पञ्चम समुल्लास
३— वही
४—

अर्थात् भोजन का सार वीर्य है, उसकी रक्षा करनी चाहिये, क्योंकि उसके क्षय हो जाने से अनेक रोग या मृत्यु हो जाती है। स्वामी जी ने लिखा है "जिसके शरीर में सुरक्षित वीर्य रहता है, तब उसको आरोग्य बुद्धि, बल पराक्रम बढके बहुत सुख की प्राप्ति होती है। विद्याध्ययन और ब्रह्मचर्य पालन इनका घनिष्ठ सम्बन्ध है। ब्रह्मचर्य पालन किये बिना विद्या की प्राप्ति नहीं हो सकती और पूर्ण विद्या के बिना उत्तम ब्रह्मचर्य का पालन सम्भव नही। इसलिये "विद्यार्थी ब्रह्मचारी स्यात्" विद्या के लिये ब्रह्मचर्य का पालन आवश्यक है।[1]

१५– सहशिक्षा का निषेध तथा स्त्री शिक्षा:— आर्ष शिक्षण प्रणाली मे लड़के तथा लड़कियो की शिक्षा का अलग–अलग प्रबन्ध किया जाता था। लडके और लड़कियों को साथ पढने की आज्ञा किसी भी अवस्था मे नही दी जाती थी। इनके आश्रम भी एक दूसरे से अलग तथा दूर होते थे। ब्रह्मचर्य के पालन के लिये तथा चरित्र की रक्षा के लिये यह बहुत आवश्यक है। सहशिक्षा के प्रचलन से चरित्र का पतन हो गया तथा सारी व्यवस्थाये गड़बड़ हो गयी। न केवल आर्थिक दृष्टि से समर्थ माता–पिता की पुत्री की शिक्षा का प्रबन्ध हो बल्कि अनाथ पुत्री की शिक्षा का भी यथावत् प्रबन्ध होना चाहिये। स्वामी जी ने लिखा है, "राजा को योग्य है कि सब कन्याओ और लड़कों को उक्त समय (स्नातक बनने) तक ब्रह्मचर्य पूर्वक शिक्षा देना अर्थात् राजा की आज्ञा से आठ वर्ष पश्चात् लड़का वा लड़की किसी के घर मे न रहने पावे, किन्तु आचार्य कुल में रहें।"[2] स्वामी जी आगे लिखते हैं" सब स्त्री पुरुष अर्थात् मनुष्य मात्र को पढने का अधिकार है।"[3] लड़के लड़कियों की अलग शिक्षा व्यवस्था के सम्बन्ध में स्वामी जी ने स्पष्ट लिखा है "पाचवे व आठवें वर्ष से लड़के लड़कों की पाठशाला में और लड़कियां लड़कियों की पाठशाला में जावे और निम्न नियम पूर्वक अध्ययन को आरम्भ करें।"[4]

१— सत्यार्थ प्रकाश, तृतीय समुल्लास
२— वही
३— वही
४— वही

वौदिक साहित्य के अध्ययन से पता चलता है कि प्राचीन काल में स्त्रियों का विधिवत् उपनयन संस्कार पूर्वक वेदाध्ययन होता था । ऐतरेय ब्राह्मण में एक कुमारी गन्धर्व गृहीता नामक विदुषी का उल्लेख उस स्थल पर मिलता है जहाँ विचार किया गया है कि अग्निहोत्र सूर्योदय से पूर्व और सूर्यास्त के बाद हो अथवा सूर्योदय के पश्चात् एवं सूर्यास्त के पूर्व हो । कुमारी गन्धर्व गृहीता के लिये ऐतरेय ब्राह्मण के टीका कार ने लिखा है—

"कुमारी नाम विदुषी सर्वलोक प्रतिष्ठिता ।
दिवि दृष्टवोदिते सूर्ये जुह्वतां वै महत् फलम् ॥"[1]

पतञ्जलि मुनिकृत महाभाष्य में "काशकृत्स्निना प्रोक्ता मीमांसा काशकृत्स्नी । काशकृत्स्नीमधीते काशकृत्स्ना ब्राह्मणी ।"[1] ऐसा प्रयोग आता है जिससे पता चलता है कि नारिया मीमांसा आदि दर्शन शास्त्रों का अध्ययन करती थी । यहां पर भी उल्लेखनीय है कि कन्याओं के अध्ययन की व्यवस्था आचार्या एवं उपाध्याया के द्वारा बालकों से पृथक् आश्रमों मे हुआ करती थी, तभी वे सुपण्डिता बना करती थी । बौद्धों के थेरीगाथा मे ऐसी बहुत सी भद्रा, कुण्डलकेशी, सुक्का आदि विदुषियो का उल्लेख हुआ है जिनसे पता चलता है कि नारियों के लिए शिक्षा का अधिकार था ।

कालान्तर मे कन्याओं की शिक्षा बन्द हो गयी और "स्त्रीशूद्रौ नाधीयताम्"[2] जैसे मनमाने कपोलकल्पित वाक्य प्रचलित हो गये । स्वामी जी ने कन्याओं की शिक्षा पर बल दिया । उन्होने सत्यार्थ प्रकाश में लिखा है— जैसे पुरुषो को व्याकरण, धर्म और अपने व्यवहार की विद्या न्यून से न्यून अवश्य पढ़नी चाहिये, वैसे स्त्रियों को भी व्याकरण, धर्म, वैद्यक, गणित, शिल्पविद्या तो अवश्य ही सीखनी चाहिये । क्योंकि इनके सीखे बिना सत्यासत्य का निर्णय, पति आदि से अनुकूल वर्तमान, यथायोग्य सन्तानोत्पत्ति, उसका पालन, वर्द्धन और सुशिक्षा करना, घर के सब कार्यों को जैसा चाहिये वैसा करना कराना, वैद्यक विद्या से औषधवत् अन्न पान बनाना और बनवाना नही कर सकती, जिससे घर में रोग कभी न आवे और सब लोग सदा आनन्दित रहे ।

१— महाभाष्यम् ४-१-१४
२— शंकराचार्य वचन

शिल्पविद्या के जाने बिना घर का बनवाना, वस्त्र आभूषण आदि का बनाना बनवाना, गणित विद्या के बिना सबका हिसाब समझना समझाना, वेदादि शास्त्र के बिना ईश्वर और धर्म को न जानके अधर्म से कभी नहीं बच सकते।"[1] कन्याओं की शिक्षा का समर्थन करते हुये स्वामी जी आगे लिखते हैं। "जैसे लड़के ब्रह्मचर्य सेवन से पूर्ण विद्या और सुशिक्षा को प्राप्त होके युवति विदुषी अपने अनुकूल प्रिय सदृश स्त्रियों के साथ विवाह करते है। वैसे ही कन्या कुमारी ब्रह्मचर्य सेवन से वेदादि शास्त्रों को पढ़ पूर्ण विद्या और उत्तम शिक्षा को प्राप्त युवती होके पूर्ण युवावस्था में अपने सदृश प्रिय विद्वान् पूर्ण युवावस्था युक्त पुरुष को प्राप्त होवे। इसलिए स्त्रियों को भी ब्रह्मचर्य और विद्या का ग्रहण अवश्य करना चाहिये।"[2] शिक्षा में किसी भी प्रकार का भेद-भाव नहीं होना चाहिये तथा राजा का कर्त्तव्य है कि वह लड़के और लड़कियों की शिक्षा का अलग-अलग ठीक प्रबन्ध करें।

१— सत्यार्थप्रकाश, ३ य समुल्लास

२— वही

सामन्तवाद और हिन्दी साहित्य

डा० भगवान देव पांडेय
हिन्दी विभाग, गु०का० वि०वि० हरिद्वार

साहित्य जीवन से जुड़ा होता है, इसलिए किसी युग के साहित्य में तत्कालीन घुटन, सन्त्रास और पीड़ा विद्यमान होती है। 'बदलते देश और काल मे मनुष्य को परिभाषित करते चलना साहित्य की जिम्मेदारी है, या एक अर्थ मे ऐसा करने के लिए साहित्य अपनी प्रकृति से मजबूर हैं।[1] असामंजस्य परिस्थितिओं के कारण आज का मानव जीवन असहज होता जा रहा है जिससे अनेक प्रकार की कुंठाए जन्म ले रही हैं और साहित्य के ओट में अपने विकृत व्यक्तित्व को रूपायित किया जा रहा है। पाठक की मानसिकता भी इसी धरातल पर पहुच चुकी है जिससे वह इस प्रकार की रचनाओ को साहित्य मान लेने के लिए बाध्य है।

सामन्तवाद शब्द मध्यकालीन सामन्तो से जुड़ी व्यवस्था, प्रथा एवं सास्कृतिक ह्रास का अभिबोधक है। इस शब्द का प्रयोग ऐतिहासिक विकास की विविध दशाओ के संदर्भ मे किया जाता है। हर राष्ट्र का सामन्तवाद भिन्न–भिन्न परिस्थितियो तथा देशकाल की देन है और परिस्थिति एव देशकाल की भिन्नता के कारण इसने विभिन्न रूप ग्रहण किए हैं।

स्ट्रेयर तथा कालबोर्न के अनुसार— 'सामन्तवाद आर्थिक और सामाजिक पद्धति न होकर, सरकार का वह स्वरूप है, जिसमे आवश्यक सम्बन्ध न तो शासक और प्रजा के मध्य होते हैं, न राज्य और नागरिको के मध्य वरन् स्वामी और उसके अधीनस्थ के मध्य होते हैं।[2]

बिलड्यूरेन्ट का कथन है – सामन्तवाद एक व्यक्ति का अपने स्वामी के प्रति आर्थिक संगठन और वैयक्तिक सुरक्षा के बदले आर्थिक सुरक्षा तथा सैनिक कर्त्तव्यों का पालन था— (Feudalism was the economic subjection military alligiance of a man to a superiar in return for

१— लघु मानव के बहाने हिन्दी कविता पर एक बहस-नयी कविता-विजयदेव नारायण साही

२– The Idea of feudalism Gournal of the Rajsthan Institute of Historical Research, October December 1970, Page-10-11

economic arganization and military protection)[1]

वेब्सटर महोदय ने अपने कोष में लिखा है कि–यह ऐसी राजनीतिक व्यवस्था थी जो राजा और सामन्त की भूमि से सम्बन्धित पारस्परिक सम्बन्धो पर आधारित थी तथा जिसमे भूमि प्राप्तकर्त्ता द्वारा सेवा और आदरभावना, स्वामित्व, सहायता विवाह आदि की घटनाए प्रमुख थी— The system polity, which prevailed in Europe in middle ages based upon the relations of Lord to vassal, with the holding of land in feud. The principal incidents of the feudal system were homage, service of the tenants, wordships, marriage, reliefs, aids, escheat and for feiture.[2]

डेविस महोदय का कहना है – सामन्तवाद विशिष्ट परिस्थितियो के परिणाम धीरे – धीरे स्थापित हुआ । यह किसी राजनीतिक नियम अथवा किसी व्यक्ति की कल्पना का परिणाम नहीं है बल्कि यह एक पारस्परिक उत्पादन है — (The feudal system was of very gradual growth, it did not one its arigin to any royal decree or to the genious or imagination of any one men or body of one man, it was a mutual product of the time during which it flourished.[3]

समय के साथ–साथ सामाजिक मान्यताए भी परिवर्तित होती रहती है । मध्यकालीन उथल–पुथल से डगमगाते समाज ने जो व्यवस्था अंगीकार की वह सामन्त वाद के नाम से अभिहित की गई । मध्यकाल मे इसका विस्तार यूरोप तक था । उसका केन्द्र कैरोलिंगियन साम्राज्य मे था । वहां से 'होली रोमन इंपायर' के द्वारा

1— The story of civilization, Part IV, Page–553

2— New collegiate Dictionary (Landon), Page–307

3— An out time History of the world–H A. Davis 300–301

पूर्वी जर्मनी तथा डेनमार्क पहुचा। दक्षिणी फ्रान्स के प्रभाव से उसका प्रसार स्पेन में भी हुआ और नारमन विजय के पश्चात् इटली और इग्लैंड भी इससे प्रभावित हुए। यूरोप में आठवीं से बारहवी शताब्दी तक के काल को इतिहास में सामन्त युग के नाम से जाना जाता है।

भारत में सामन्तवाद के चिन्ह तीसरी शताब्दी से प्रकट होने लगे थे तथा मध्यकाल तक आते-आते वह पूर्णरूप से प्रतिष्ठित हो गया। ग्यारहवी से लेकर बारहवी शताब्दी के अन्त तक यह अपने चरमोत्कर्ष पर पहुचा हुआ था। इस काल मे राज्याधिकारियों के सामन्ती ढांचे मे ढलने की प्रवृति अपनी पराकाष्ठा पर पहुच गयी।[1] मौर्य एव गुप्तकाल के ऐतिहासिक अभिलेख सामन्तवाद की उद्‌भावना के स्रोत हैं। सामन्तवादी प्रवृतियां मौर्यकाल के पश्चात् ही पनपने लगी थी। गुप्तकाल मे भारत मे भूमि सम्पत्ति आधिपत्य के प्रथम तत्त्व अपने आरम्भिक रूप मे प्रकट हुए।[2]

इतिहास विद् डा० ईश्वरी प्रसाद ने सामन्तवाद का आगमन राजपूतो के समय से माना है। भारतीय सामन्तवाद का वास्तविक रूप राजपूतों के समय मे सामने आया तथा मुसलमानो के आगमन के बाद यह वास्तविकता मे परिणत हो गया — (However, the real character of Indian feudalism came into light under the Rajput and after coming of Muslims it crystalized in to a reality.)[3]

सामन्तवाद एक राजनीतिक और प्रशासनिक व्यवस्था थी जिसने मध्ययुग की विशेष परिस्थितियो मे जन्म लिया। यूरोप में सामन्तवाद के उदय का कारण राजतन्त्र की विफलता थी। भारतीय सामन्तवाद यूरोपीय सामन्तवाद से अनेक तत्त्वो में समानता रखते हुए भी मौलिक रूप से भिन्न है। भारतीय सामन्तवाद ने धार्मिक अनुदान भोगियों के रूप मे प्रश्रय और विकास पाया। भारत मे राजनीतिक सत्ता के

१— भारतीय सामन्तवाद — रामशरण शर्मा, ए० २०१

२— भारतीय चिन्तन परम्परा — भारत मे सामन्तवाद, अ० १८, अनु०-बी० श्रीधरन् पृ० २०७

३— History of Quruvah Turks, P.-259

विकेन्द्रीकरण का कारण वह नहीं था जो यूरोप में था। कुछ सीमाओं तक यूरोपियन सामन्तवाद की कतिपय अपनी विशिष्टताएं थी जिनमे भूमि अनुदान, कृषकों का हस्तान्तरण, बेगारी-प्रथा, आवासीय प्रतिबन्ध, मुद्रा का अभाव, व्यापार का ह्रास, दण्ड प्रशासन को अनुदान योगियों के हाथ सौंप देना आदि विशेषताए प्रमुख थी।

सामन्ती व्यवस्था में जनशोषण के अनेक क्षेत्र थे। अपने प्रभुत्व की स्थापना के लिए पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता ने प्रशासनिक और आर्थिक शोषण को जन्म दिया। किसी भी राजकीय अधिकार के आगमन पर उसके रहन-सहन, खान-पान, भोग-विलास आदि के प्रबन्ध के अतिरिक्त उसके आगे की यात्रा का भी खर्च वहां के निवासियों को उठाना पड़ता था। एक ओर सामन्त गाव के निवासियो को, जब चाहे उनकी भूमि हस्तगत कर, बेदखल कर सकता था, दूसरी ओर उन्हे अपनी इच्छानुसार आवास तथा व्यापार पर प्रतिबन्ध था। इस स्वार्थी प्रकृति के कारण अनिश्चितता की स्थिति में उद्योग और व्यापार की अवनति हुई। प्रशासन और न्याय के अधिकार सामन्तो के पास आ जाने से उनकी शक्ति अपरिमित हो गई और वे स्वेच्छाचारी बनकर इसका उपभोग करने लगे जिसके कारण राजव्यवस्था दोषपूर्ण होती गई और दण्ड प्रशासन की कुरीतिया सामन्ती - शोषण का अग बन गयी। बेगार प्रथा सामन्ती युग की विशिष्ट देन है। इसके अन्तर्गत कृषकों एवं श्रमिकों से निःशुल्क काम लिया जाता था। अन्य अनेक करो के साथ ही सामन्त अथवा जमींदार को किसानो से बेगार लेने का अधिकार प्राप्त था। राजतंरगिणी मे कहा गया है कि बेगारे के रूप मे श्रमिक शोषित होते थे।[1] बेगार प्रथा का ही दूसरा रूप बंधुआ मजदूरी थी जिसमें थोड़ा सा ऋण देकर व्यक्ति को जीवन - पर्यन्त जमीदारो और ठेकेदारो की बेगार करनी पडती थी जिसके कारण कई परिवारों की पीढ़ी दर पीढ़ी जमीदारों या स्थानीय पूंजीपतियों के लिए बहुत ही अल्पऋण के बदले सारी उम्र काम करने पड़ते थे। यह प्रथा छद्म रुपों में आज भी प्रचलित है।

भारतवर्ष मे सामन्तवाद का स्वरूप वैदिककाल मे था अथवा नही, इस पचड़े में न पड़कर इतना कहा जा सकता है कि यह परम्परा रामायण और महायुग में भारत

१— राजतरंगिणी, खण्ड-१, श्लोक-१७२-४

चली आ रही है। प्राचीन साहित्यकारो ने हर जगह इसका उल्लेख किया है। हम लोगों ने अपनी चिन्तन प्रक्रिया मे एक लीक सी डाल ली है — प्रत्येक क्रिया कलापों का स्रोत वेदो में ढूढने की तथा उदारवादी एवं धर्म निरपेक्ष बनने के लिए हिन्दू धर्म को कोसने एवं गाली देने की। जो व्यक्ति जितना अधिक हिन्दू धर्म को उपेक्षित और और निकृष्ट बता सकता है वह उतना ही बड़ा बुद्धिजीवी कहलाने का दावा कर सकता है। सामन्तवाद का पूरे विश्व - साहित्य में एक सा ही रूप मिलता है, यह चाहे जब से उत्पन्न हुआ हो, इसके शौर्य के प्रहार को पूरा विश्व झेला ही नहीं है बल्कि उससे आज भी तडप रहा है।

हिन्दी साहित्य में सामन्ती व्यवस्था का चित्रण सर्वत्र मिलता है। आदिकाल उनके भोगी शौर्य–प्रदर्शन की गाथाओं से भरा पड़ा है तो मध्यकाल उससे व्याप्त असन्तोष की व्याकुलता से तड़पता नजर आता है। रीतिकाल मे सामन्ती व्यवस्था हावी होकर नारी अगो के आकर्षण तक परिमित रह जाती है। आधुनिक काल तक आते – आते, युगों – युगों से आ रही सामन्ती व्यवस्था के विरुद्ध होने वाली छट–पटाहट मुखरित होने लगती है। यह व्यग्रता इतनी बढ जाती है कि किसी एक लीक पर बहुत दिनो तक कोई रचनाकार नही चल पाया है। भारतेन्दु युग में क्रान्ति की विफलता की तड़प है और अग्रेज सामन्तो के प्रति एक वितृष्णा है तो द्विवेदी युग में सामन्ती अनाचार से मुक्ति की छटपटाहट है। छायावादी साहित्य हो या प्रगतिवादी या प्रयोगवादी अथवा नयी कविता या फिर सचेतन कविता या समकालीन कविता का युग सामन्ती त्रासदी की चीत्कार सब मे विद्यमान है और सभी ने सामन्ती व्यवस्था के विरुद्ध अपना आक्रोश व्यंजित किया है।

आदिकाल से ही, हिन्दी–साहित्य में, सामन्तवाद का उल्लेख मिलता है। इसलिए इस युग का एक नामकरण — सिद्ध - सामन्त - युग' भी किया गया है। यह युग आरम्भ से ही उथल–पुथल का युग रहा है। आक्रामकों के नृशस अत्याचारो से एक ओर जनता परेशान थी तो दूसरी ओर यहा के राजा एवं सामन्त यशोलिप्सा तथा सुन्दरियो को बलात् छीनने एवं अपहरण करने के शक्ति - प्रदर्शन में मस्त थे। इस युग के कवि चारण या भाट थे जो अपने–अपने आश्रयदाताओ से पुरस्कार पाने की

लालच में उनका अतिरेक पूर्ण प्रशस्तिगान एवं मिथ्या शौर्यगाथा का गान करते रहते थे। खुमानरासो, बीसलदेव रासो, पृथ्वीराज रासो, जयमयंक जसचंद्रिका, परमाल रासो, कीर्तिलता आदि जितने भी ग्रन्थ मिलते है उन सब मे आश्रयदाता सामन्तो का अत्युक्ति पूर्ण मिथ्या स्तुतिगान एवं चाटुकारिता विद्यमान है। इन प्रशस्तिगानों में व्यक्ति तो पीछे छूट गया है लेकिन उसके व्यक्तित्व को आकाश मे अधिष्ठित कर दिया गया है।

मध्ययुगीन परिस्थितियां विषम एव विशृंखल थी। भारतीय चेतना सर्वप्रथ म महमूद गजनवी के आक्रमण से विकल हुई थी। उसने भारतीय अह को बुरी तरह से रोंद डाला था। बाद के आक्रान्ताओं ने धीरे-धीरे अपनी लूट को शासक के रूप मे स्थापित करना शुरु किया और लूट–खसोट को शासकीय स्वरूप दे दिया। मध्यकाल में भारतीय जनता असहाय, संत्रस्त और कमजोर हो चुकी थी। यह मूलतः धार्मिक मदान्धता और कट्टरता का परिणाम था। मध्ययुगीन सर्जक लोक धर्म के प्रतिपादक थे। इसलिए युग-युग से चली आने वाली बाह्याचारो मे आच्छादित, स्वार्थ से अभिशप्त वासनाओं से जकड़ी हुई शोषण की प्रवृत्ति का खुलकर विरोध एवं निन्दा की इस युग के साहित्य का सर्जन जनता के उस स्तर के लिए हुआ था जो युग-युग से शोषित तिरस्कृत, अशिक्षित और दमन चक्र से ग्रस्त थी। इसके रचनाकार लोगों के हृदय में विश्वबन्धुत्व, क्षमाशीलता, दया, करुणा उदारता, सहृदयता आदि सद्‌गुणों के विकास का वातावरण बनाना चाहते थे।

मध्यकालीन साहित्य क्रान्तिकारी साहित्य है जिसमें सामन्ती जड़ता जातीय विद्वेष और साम्प्रदायिक घृणा के विपरीत मानवता की भावना को उभाड़ा गया है और जो मनुष्यता गिर रही थी, उसे ऊपर उठाया गया है। इस साहित्य को पढ़कर आत्मविश्वास और आत्मसम्मान की भावना पुष्ट होती है—

अबकी दुनिया गुनियां जो भई,
सब बांधत मोट अटम्बर की।
एक को छांडि जो दूजो भजै,
तो जरै रसना बहि लब्बर की।
सरणागत 'श्रीपति' श्रीपति को,
मोहि भास नहीं कोई जब्बर की।
जिनको प्रभु की परितीति नही,
वे करैं नित आस अकब्बर की।

इसी लिए उसकाल के साहित्य की वाणी आज भी सुनाई पड़ती है। कबीर, जायसी, सूर, तुलसी आदि सभी ने अपने युग के सामन्तों एव राजाओं के अपमान एव तिरस्कार को झेला है। उनकी हताशा—'संतन को कहां सिकरी सो काम' से झलकती है। तुलसी जैसे मर्यादावादी को भी 'धूत कहो, अवधूत कहो, रजपूत कहो, जुलहा कहु कोऊ' जैसी फटकार लगानी पड़ी थी। इस युग के अन्य साहित्यकार भी अपने-अपने ढग से तत्युगीन सामन्ती व्यवस्था के प्रति आक्रोश व्यक्त करते रहे है।

रीतिकाल सामन्ती व्यवस्था की जड़ता का प्रतीक है। इस युग के रचनाकारो ने अपने स्वार्थ पूर्ति के लिए अपने आश्रयदाता सामन्तो की मिथ्या प्रशसा मे अपना साहित्यिक कौशल दिखाने मे ही अपनी प्रतिमा लगा डाली है। इस युग के रचनाकार दरबारी थे। अतः उनका साहित्य प्रायः अपने आश्रयदाताओ के अत्युक्तिपूर्ण प्रशस्तिगान मे उनसे पारितोषिक पाने की लालसा से सृजित है जिसके कारण इस युग का साहित्य वाणी-विलास का एक साधन बनकर आया है। यद्यापि इसी युग मे भूषण भी हुए है जो अपने साहित्य को नारी देह के आकर्षण तक सीमित न करके अपना अलग साहित्य सृजित किया है जिसमे युग चेतना जागृत की गई है पर ऐसे साहित्यिको की सख्या ही कितनी है? वास्तव मे यह युग प्रशस्तिगान की प्रधानता से वर्णित तथा पुरस्कार पाने की लालसा से रचित शृंगारिक रचनाओं की प्रधानता का युग था।

आधुनिक युग अपनी अलग छाप लेकर आता है। इस युग के साहित्यकार की वाणी निर्भीक एव उन्मुक्त है। जिसमे न तो अपने आश्रयदाताओ की चापलूसी है और न पुरस्कृत होने की तृष्णा। यह पूर्णत. सामन्त विरोधी युग है क्योकि इस युग के साहित्यकारो ने देश की स्वतत्रता को अंग्रेजो के पास गिरवी रखते हुए सामन्तों और जागीरदारों को देखा था और १८५७ के स्वतत्रता संग्राम मे इन श्रीमन्तों को राष्ट्र के साथ गद्दारी एव विश्वासघात करते पाया था तथा अंग्रेजो के सम्मुख समर्पण करके देश तथा देशवासियों पर अत्याचार करने मे अंग्रेजो के सहायक के रूप मे इनके विकृत स्वरूप को सहन किया था।

साहित्य अतीत की निधि तथा भविष्य की धरोहर होता है। रचनाकार अपने अपने अतीत को साथ लेकर चलता है। उसकी रचना में वर्तमान के साथ भविष्य की चिन्ता सामने होती है। हरिऔध जी ने अपने साहित्य को एक बौद्धिक धरातल देने की चेष्टा की है। उनके नायक कृष्ण समाज सुधारक, लोक सेवी, जाति उद्धारक विश्वप्रेमी एवं निःस्वार्थ नेता के रूप में आए है। उन्होंने कालिया नाग के माध्यम से देश में बढते अत्याचारों की और संकेत किया है। कालियानाग सामन्ती अत्याचारों का प्रतीक था—

स्वजाति को देख अतीव दुर्दशा
विगर्हणा देख मनुष्य मात्र की
हितेषणा से निज जन्मभूमि की
अपार आवेश हुआ ब्रजेश को।[1]

मैथिलीशरण गुप्त की रचनाओं में नयी मानवीय आस्था का प्रतिबिम्ब मिलता है जो नारीमुक्ति, मानवतावाद, स्वतंत्रता, नैनिक आदर्शीकरण की भावभूमि पर सरचित है। इनकी पृष्ठभूमि में आर्थिक शोषण, राजनैनिक परतंत्रता, तथा अध आस्था से छुटकारा पाने की सांस्कृतिक तड़प है—

धन रूपी फल का परिश्रम ही मूल है,
किन्तु श्रमिकों को फल मिलता है कितना
पूंजीपतियों का नही जूठन भी जितना। – पृथ्वी पुत्र

प्रसाद की साहित्यक चेतना मानव केन्द्रित थी। उन्होंने अपने युग की व्यापक सामाजिक चिन्ताओं को अपनी चिन्ता बनाकर प्रस्तुत किया है। उनकी कामायनी का प्रलय सामन्ती शोषण एव अमर्यादित कर्मों का प्रतिफलन है। सृजन का मूल 'काम' जब मात्र भोग तक सीमित रह जाता है तब वह शोषण का प्रतीक बन जाता है। जिससे सामाजिक कल्याण तों संभव ही नहीं। मनु के सारे गुण सामन्ती हैं। वह किसी भी स्तर तक उतर कर अपनी इच्छाओ की तुष्टि चाहता है और अपनी आत्मजा प्रजा से भी अतिचारी बन जाता है।

१— प्रियप्रवास – अयोध्या सिह उपाध्याय "हरिऔध"

आलिंगन ! फिर भय का क्रन्दन ! वसुधा जैसे कांप उठी।
वह अतिचारी, दुर्बल नारी परित्राण पथ नाप उठी।
अंतरिक्ष में हुआ रुद्र हुङ्कार भयानक हलचल थी,
अरे आत्मजा प्रजा ! पाप की परिभाषा बन शाप उठी।'[1]

निराला की रचना जाति के मुक्त प्रयास का अंग थी। उनकी चिन्ता यह थी कि प्रतिकूल परिस्थितियों में जन जीवन की अन्तरात्मा का अधकार कौन दूर करेगा। कौन उसे परम्परा की ऐतिहासिक शक्ति से जोड़ेगा और सामाजिक वास्तविकता से परिचित कराएगा तथा कौन लोगों को सामन्ती शोषण से मुक्त कराएगा ? जनजीवन शोषण से आर्थिक अभाव में कंगाल बनता जा रहा है। उदर पूर्ति की चिन्ता मे गरीबों का जीवन निरुपाय और विवश बनाकर उत्पीड़ित किया जा रहा है—

भूख से सूख ओंठ जब जाते,
दाता-भाग्य विधाता से क्या पाते ?
घूंट आसुओं के पीकर रह जाते।
चाट रहे है जूठी पत्तल कभी सड़क पर खड़े हुए
और झपट लेने को उनसे कुत्ते भी अड़े हुए।[2] —

'संशय की एक रात' में नरेश मेहता के राम समाज के कल्याण तथा सामूहिक मुक्ति के समक्ष व्यक्तिगत बलिदान के लिए तत्पर हो जाते है। वे जानते हैं कि इतिहास के सम्मुख उनके व्यक्तिगत अंतर्द्वन्द्व, संशय, तर्क आदि का कोई महत्व नही रहेगा क्योंकि इतिहास बहुमत का प्रतिनिधित्व करता है और बौद्धिक वर्ग आश्रय-दाताओ के प्रशस्तिगान मे अपनी आत्मा गिरवी रख चुका है। इसमे उसका कोई दोष नही है क्योंकि अभाव उसकी नियति बन चुका है जिसे झेलते-झेलते वह भी अब कमजोर पड़ने लगा है—

१— कामायनी— जयशंकर प्रसाद, स्वप्न— पृ०-१६३
२— अपरा— भिक्षुक कविता, १९२१

राघव !
हर प्रज्ञावान, शंकाशील
इसी यात्रा पर चला है
यदि वह यात्रा है।
क्या करोगे मित्र
यहां सब अनिवार्यता है।[1]

'अंधा युग' मे मूल्य हनन की परम्परा को प्रतिहिंसा की शक्ल दी गयी है। यह सामन्ती व्यवस्था के प्रति उभरा आक्रोश है। इसका संघर्ष मन के भीतर घटित होता है। यह गलित सामन्ती संस्कृति के भास का बोधक है। धृतराष्ट्र समूचे सामन्ती युग की ओर संकेत है, जिसे यथार्थ का बोध नहीं होता।

'एक कंठ विषपायी' में शिव यथार्थ के देवता हैं। साधारण जन की आस्थाएं आकांक्षाए मानसिक दशाएं, सामाजिक स्थितिया ही शिव है। इसीलिए शिव परम्परा भंजक, विद्रोही तथा सामन्ती त्रासदी का गरलपान करते हुए दिखाए गए है। सती की मृत्यु शिव के सामर्थ्यवान व्यक्तित्व के आगे चुनौती तथा उनका सम्पूर्ण त्याग, संघर्ष उनके सामने क्रूर व्यग्य बनकर आता है। प्रियाहीन शिव का व्यक्तित्व विखंडित हो गया। उनकी प्रिया सामन्ती व्यवस्था की बलि चढ गयी जिससे शिव की विवशता एव वेदना दिशाहीन विद्रोह मे परिवर्तित हो गयी।

दिनकर जी अपने साहित्य मे आततायी, उत्पीड़क और स्वत्वापहारो के विरूद्ध हिंसा का समर्थन करते है क्योंकि मनुष्यता वहा हार जाती है। शोषक या अन्यायी ही हिंसा के लिए उत्तरदायी है। अहिंसा शोषितो की क्रान्ति से डरे हुए शोषको का मुखौटा है। वे पूरी व्यवस्था को ही चुनौती देते है और सामन्ती व्यवस्था के प्रति विद्रोह कर देते है।

मुक्तिबोध अपनी दृष्टि शोषित कृषक वर्ग एवं ग्राम्य जीवन की ओर ले जाते है। वे अराजकता, अव्यवस्था और संत्रास के मूल मे आदमी को मानते है—

समस्या एक
मेरे सभ्य नगरों और ग्रामों मे
सभी मानव
सुखी सुन्दर व शोषण मुक्त
कब होंगे।[2]

१— संशय की एक रात— नरेश मेहता, पृ०–७७–७८
२— चांद का मुंह टेढ़ा है — गजानन माधव मुक्तिबोध

धूमिल की संवेदना एक क्षुब्ध विचारक की संवेदना है। युग के यथार्थ का एक विश्लेषित चित्र, एक विचारक की गम्भीर रचना दृष्टि और रचनात्मक प्रतिक्रिया की निर्णायक अभिव्यक्ति देना धूमिल के रचना की उपलब्धि है। इसी लिए वे कहते हैं 'कविता/भाषा मे/आदमी होने की / तमीज है।" उन्होंने वर्तमान व्यवस्था मे जनता को दो मानसिक किनारो पर विभाजित पाया था। एक वर्ग जहा अपने बौद्धिक दम्भ तथा ऊचे सैद्धान्तिक बहसो मे डूबा तथा उलझा है तो दूसरी ओर देश की व्यापक अशिक्षित जनसख्या है जो अभी भी अपने अधिकारों के दायित्व एव सघर्ष चेतना से शून्य है। उन्होंने देश की दुदशा का जो चित्र खींचा है वह पूरी भारतीय चेतना को झकझोर कर रख देता है—

दु:खीमत हो। यही मेरी नियति है।
मै हिन्दुस्तान हूँ। जब भी मैंने
उन्हें उजाले से जोड़ा है
उन्होंने अपमानित किया है
इसी तरह तोड़ा है
मगर समय गवाह है
कि मेरी बेचैनी के आगे भी रहा है
मैंने सुना। वह आहिस्ता - आहिस्ता कह रहा है
जैसे किसी जले हुए जगल मे
पानी का ठडा सोता बह रहा है।[1]

वे जड़ीभूत, जाहिल और सामाजिक सरोकारो के प्रति गैर जिम्मेदार पाशविक वृत्तियो मे आकठ डूबे चरित्रो से आहत होकर स्वयं को आक्रामक मुद्रा तक ही पहुचा पाते हैं। फिर भी उनकी विकलता पूरे मानव समुदाय को झकझोर देती है—

"एक आदमी—। दूसरे आदमी की गरदन। धड़ से
अलग कर देता है। जैसे एक मिस्त्री बल्टू से
नट अलग करता है। तुम कहते हो
यह हत्या हो रही है। मै कहता हू—मैकेनिज्म टूट रहा है।"[2]

१— संसद से सड़क तक — धूमिल, पृ० १०४
२— "कविता श्री क कुलम" शीर्षक कविता, कल सुनना मुझे—धूमिल, पृ०—२०।

१९७० के बाद की रचनाओ मे युगजीवन का सवेग है। इस युग का रचनाकार अब यह समझने लगा है कि–

खेल वही अब भी
सिर्फ खिलौने बदल गए
बदले हैं हथियार
किन्तु
आखेट वही हैं।
आदिम मन की भूख
गुफाएं ठेठ वही है
वही शिकारी वृत्ति
सिर्फ मृगछौने बदल गए हैं।

सामन्ती चेतना का आज भी लोप नहीं हो पाया है, बल्कि यह प्रवृत्ति ज्यो का त्यों जनमानस में आसनोपविष्ट है और अब भी लोगो को आक्रान्त कर रही है। आज सामन्तवाद नवीन चोले में प्रकट हुआ है। स्वतंत्रता के बाद सामन्तवाद नवीन चोले में उदित हुआ है और नयी दरबारी सस्कृति का उत्थान हुआ है। ये दरबारी परजीवी प्रवृत्ति के हैं जो सामन्तो के नवीन सस्करण बगुला भगत नेताओ के राग अलापते रहते है। पूंजीपतियों के रूप में नवसामन्त समस्त जनतंत्र और अर्थतंत्र को जकड़े हुए हैं। सामन्ती व्यवस्था और तानाशाही मे ही नही लोकतत्र में भी सत्ता बहुत बड़ी वस्तु है। सत्ता प्राप्त व्यक्ति अपने को किसी सामन्त से कम नही समझता। एक दुर्बल, असहाय और आर्थिक दृष्टि से गरीब देश में शक्ति एवं अर्थ की पूजा से निकृष्ट नवसामन्ती समाज ही संरचित हो सकता है। इस प्रकार का समाज सर्वत्र तेजी से तैयार हो रहा है, जिसमे सामन्ती व्यवस्था का प्रत्येक तेवर है केवल गरिमा नहीं है। ये सामन्त अपनी शक्ति एवं सामर्थ्य के साथ सामाजिक फलक पर छाए हुए हैं।

सामन्तवाद प्रवृत्ति मूलक दृष्टि से आज भी भारतीय जीवन और समाज में शेष है। सामन्ती प्रवृत्तियों के प्रतिनिधित्व कर्ता सामन्तों, जमीदारों, जागीरदारों, महाजनों सेठों साहूकारों के अतिरिक्त धर्म गुरु, पंडे, पुरोहितों, उद्योगपतियों तथा सत्तासीन

राजनेताओं और भ्रष्ट प्रशासनिक अधिकारियों का योग जनशोषण की इस पद्धति को विकसित करता है। सामन्तवाद की अंतिम कड़ी जमींदारी प्रथा समाप्त हो जाने पर टूटे हुए सामन्त विभिन्न राजनीतिक संस्थाओं से सम्बद्ध होकर विधान सभाओं तथा संसद में पहुंचकर अपनी अभिरुचियों और प्रवृत्तियों को राजनीति के क्षेत्र में अभिव्यक्ति देने लगे हैं। और इनकी चापलूसी कर कर एक अन्य वर्ग सामन्ती व्यवस्था का पोषण कर रहा है।

सामन्ती शोषण का कुचक्र एक निर्धारित प्रक्रिया के रूप में निरन्तर गतिशील है। इस शोषण की कहानियां स्वतंत्र भारत के नवनिर्मित इतिहास का अंग बनती जा रही है। यद्यपि शोषण जन चेतना को कुंठित करता रहा है तथापि हिन्दी के सजग, प्रबुद्ध एवं संवेदनशील सर्जकों के समकालीन जीवन और परिवेश में परिव्याप्त सामन्ती प्रवृत्तियां को अपनी कृतियों के माध्यम से प्रकट करते हुए इस प्रवृत्ति से मुक्ति के लिए विरोध और निराकरण प्रस्तुत करते रहते हैं।

सांख्य निरीश्वरवाद एवं ईश्वरवादी तत्व

साख्य दर्शन को साधारणतः निरीश्वरवादी मान लिया जाता है, परन्तु उसके निरीश्वरवादी होने का निष्कर्ष जितना सरल प्रतीत होता है, उससे कहीं बहुत ज्यादा जटिल और विवादास्पद है। सांख्य-दर्शन के मान्य प्रामाणिक ग्रन्थों मे ही विरोधी विचारों एवं तर्कों का अवलोकन किया जा सकता है। जहा एक तरफ ईश्वर के कर्तव्य व ज्ञान की संभावना के खण्डन प्राप्त हैं, तो दूसरी तरफ अनेकानेक व्यवस्थापक ईश्वर के अस्तित्व की परिकल्पना के दर्शन भी होते हैं। साख्य दर्शन के प्रामाणिक ग्रन्थों मे ईश्वर सम्बन्धी विमर्शों में परस्पर विरोधी परिकल्पनाओ के बाद इसे निरीश्वरवादी दर्शन कहना कहां तक औचित्यपूर्ण होगा ? यहा मुख्यत. यही प्रश्न विचारणीय है।

उपर्युक्त प्रश्न का समुचित उत्तर प्राप्त करने के उद्देश्य से इस निबन्ध को तीन भागों मे विभाजित करेंगे। प्रथम भाग में सांख्य-दर्शन के कुछ प्रामाणिक ग्रन्थो के आधार पर ईश्वर के अस्तितत्व का खण्डन करने और उसके अस्तित्व के स्वीकार करने हेतु प्रदत्त मूलतर्कों का विवेचन होगा। द्वितीय भाग में निरीश्वरवादी निष्कर्ष को मान लेने से ऊपजी विसगतियों का विवेचन होगा तथा तृतीय भाग मे उन विद्वानो (समकालीन) के मतों के विश्लेषण का प्रयास होगा जिन्होने गहन अध्ययन के पश्चात् सांख्य को निरीश्वरवादी कहा या उसमें ईश्वरवाद के तत्वो की खोज की। सर्वप्रथम हम मूलतर्कों की विवेचना की ओर बढते हैं।

इस भाग मे हम सर्वप्रथम उन तर्कों का विश्लेषण करेंगे, जिनके आधार पर साख्य – दर्शन को निरीश्वरवादी माना जाता है। तत्पश्चात् उन तर्कों पर विचार करेंगे, जो सांख्य दर्शन में ईश्वर के अस्तित्व की परिकल्पना को उजागर करते है।

दर्शनशास्त्र मे किसी भी विषय पर नकारात्मक निष्कर्ष निकालने के दो तरीके अपनाये जाते है। प्रथम तत्सम्बन्धी तर्को का खण्डन। द्वितीय, तद्हेतु किसी अन्य सत्ता का प्रतिपादन। सांख्य – दर्शन के कुछ प्रामाणिक ग्रन्थों मे भी उपर्युक्त तरीको को अपनाया गया है। उन सारे हेतुओं मे ईश्वर की आवश्यकता को नकारा गया है, जिसके आधार पर ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध किया जा सकता है। पुन. वे उन्ही

उद्देश्यो की पूर्ति के लिए प्रकृति और पुरुष के स्वतंत्र अस्तित्व को स्वीकार किया गया है। साख्य-दर्शन को निरीश्वरवादी मानने के लिए निम्न तर्क प्रस्तुत किये जाते है।

अधिकांशत. ईस्वरवादी दार्शनिक ईश्वर को सृष्टि का उपादान कारण मानते है। सांख्य तत्व कौमुदी मे इस विचार का स्पष्ट खण्डन मिलता है। इसके अनुसार ईश्वर को सृष्टि का उपादानकारण नही माना जा सकता है क्योकि सृष्टि जड़ त्रिगुणात्मक और परिणामी है जबकि ईश्वर चेतन, निर्गुण तथा अपरिणामी माना जाता है। ईश्वर को सृष्टि का उपादान कारण मानना, साख्य को उसके अपने मूलभूत सिद्धान्त 'सत्कार्यवाद" के खण्डन की ओर ले आयेगा। दूसरे शब्दो मे ईश्वर को उपादान कारण मानने का अर्थ है – 'कार्य किसी ऐसे कारण से उत्पन्न होगा, जो ठीक उसके विरोधी हैं। अतः सृष्टि का उपादान कारण ईश्वर को नहीं माना जा सकता है। प्रकृति त्रिगुणात्मिका और परिणामी तत्व है। अतः वही सृष्टि का उपादान कारण है। साख्य तत्व कौमुदी में इस तर्क को निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया गया है ?

"आरभ्यते इति आरम्भ." सर्ग· महदादिभूतान्त. प्रकृत्यैव कृतो नेश्वरेण न ब्रह्मोपादान. नाप्यकारण. अकारणत्वे ह्यत्यन्त भावोऽत्यन्ताभावो वा स्यात्। न ब्रह्मोपादानः चित्तिशक्तेपरिणामात्। नेश्वराधिष्ठितप्रकृतिकृतः निर्व्यापारस्याधिष्ठातृत्वासम्भवात्।"[1]

ईश्वरवादी दार्शनिक ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार करने के लिए किसी न किसी प्रयोजन की परिकल्पना कर लेते हैं। सांख्य दर्शन का दूसरा तर्क इसी से सम्बद्ध है। सांख्य तत्व कौमुदी इस प्रश्न को उठाता है कि सृष्टि सरचना मे ईश्वर का क्या प्रयोजन है। सम्पूर्ण प्रयोजनो को दो भागों मे बाटा जा सकता है – स्वार्थ और परार्थ। सृष्टि सरचना मे ईश्वर का कोई स्वार्थ नही हो सकता है, क्योकि ईश्वर में किसी स्वार्थ की स्थिति उसकी अपूर्णता को दर्शाता है – जबकि ईश्वर को पूर्ण माना

१— सांख्यतत्व कौमुदी, पृ० २७४

जाता है। अत स्वाथ उसका प्रयोजन नही हो सकता है। तब क्या उसका प्रयोजन परार्थ (कारूण्य) है ? सांख्य तत्व कौमुदी इस प्रश्न का उत्तर भी निषेधात्मक देता है। उसके अनुसार संसार मे जिस प्रकार की दुःख वृत्ति दिखाई देती है उसके आधार पर तो यही कहा जा सकता है कि सृष्टि का प्रयोजन कारूण्य नही है। यदि ईश्वर करूणावश ससार सृष्टि की तरफ प्रवृत्त होता तो दुःख का अस्तित्व ही क्यो होता। इस तर्क को कौमुदी में निम्न शब्दों में अभिव्यक्त किया गया है–

"न ह्यवाप्त सकलेप्सितस्य भगवतो जगत् सृजत. किमप्यभिलषितं भवति। नापि कारूण्यादस्य सर्वे प्रवृत्ति: प्राक् सर्गाज्जीवानामिति य शरीर विषयानुत्पत्तौ दुःख्या भावेन कस्य प्रवाणेच्छा कारूण्यम्।"[1]

उपरोक्त दोनों तर्कों के अतिरिक्त कौमुदी में कर्म सिद्धान्त के आधार पर भी ईश्वर की सत्ता को स्वीकार किये जाने का खण्डन प्राप्त है। साख्य तत्व कौमुदी के अनुसार संसार मे प्राय. पाया जाता है कि कर्म कोई करता है और फल कोई भोगता है। इस दृष्टि से इस कर्मप्रधान जगत में कर्मो का अधिष्ठाता कोई अवश्य है, परन्तु वह ईश्वर नही हो सकता है। ईश्वर तो अपरिणामी निर्विकार और अक्षर है फिर वह कर्मों का फल देने वाला परिणामी कैसे हो सकता है।

उपरोक्त तर्कों के आधार पर ही अनेक विद्वान् सांख्य–दर्शन को निरीश्वरवादी स्वीकार कर लेते हैं। अब उन तर्कों का अवलोकन भी अपेक्षित है, जिनके आधार पर साख्य दर्शन में ईश्वरवादी तत्वों की पुष्टि की जाती है।

यहां स्पष्ट कर देना आवश्यक होगा कि सांख्य मे ईश्वरवाद का प्रतिपादन मुख्य रूप से विज्ञानभिक्षु तथा उनके बाद के सांख्याचार्यों ने किया है। महाभारत और गीता में जिस सांख्य का उल्लेख मिलता है वह सेश्वर सांख्य ही है। साख्य प्रवचनसूत्र में ईश्वर का जो उल्लेख मिलता है, वह निरीश्वरवादी न होकर अज्ञेयवादी है। साख्य दर्शन को ईश्वरवादी सिद्ध करने के लिए निम्नलिखित तर्क है।

विज्ञान भिक्षु एवं उनके कुछ अनुयायियों का मन्तव्य है कि यद्यपि ईश्वर ने

१— साख्यतत्व कौमुदी, पृ० २७८

प्रकृति के सहयोग से जगत की उत्पन्न नहीं किया, फिर भी ईश्वर का अस्तित्व हमें इसलिए स्वीकार करना चाहिए क्योंकि उसी की प्रेरणा से जड प्रकृति में क्रिया का उन्मेषय होता है। प्रकृति और ईश्वर का सबन्ध लौह – चुम्बक जैसा है। जिस प्रकार चुम्बक, समीप रखे हुए जड लोहे में गति या क्रिया पैदा कर देता है, उसी प्रकार ईश्वर के सान्निध्य से प्रकृति में क्रियाशीलता उत्पन्न हो जाती है।

"तत्सन्निधिनादधिष्ठानात् मणिवत्।"[1]

इस दृष्टि से ईश्वर की सत्ता प्रकृति से ऊंची है। यहां ईश्वर पूर्णकाम, नित्य और जीवों में अन्तर्यामी होकर भी प्रकृति के कार्यों का साक्षी बना रहता है। इस बिन्दु पर सांख्य एक ऐसे ईश्वर की परिकल्पना करता है, जो पहले प्रकृति के अन्दर लीन था और बाद में प्रकट हुआ। जैसा कि कहा गया है– "प्रकृतिर्लीनस्य जन्येश्वरस्य सिद्धि.।"[2]

साख्य सूत्र में तो यहां तक भी कहा गया है कि सबका कर्त्ता ईश्वर ही है और वही सबका ज्ञाता भी है – 'स हि सर्ववित् सर्वकर्त्ता।'[3] पुनश्च यह भी कहा गया है कि इस तरह के ईश्वर की सत्ता सिद्ध की जा सकती है। ईदृशेश्वरसिद्धिसिद्धा:।'[4]

साख्य-दर्शन के परवर्ती ग्रन्थों में जो भी ईश्वर विवेचन उपलब्ध है, वह कहीं सर्वेश्वरवाद के निकट प्रतीत होता है, तो कहीं बहुदेववाद के। सांख्य सूत्र में स्पष्ट किया गया है कि यदि सत्ता मात्र को कोई ईश्वर कहे तो फिर समस्त विश्व को ही ईश्वर मानना पड़ेगा यथा—

सत्तामात्राच्चेत् सर्वैश्वर्यम्।"[5]

यहां एक ज्वलन्त प्रश्न यह उठता है कि जो सांख्याचार्य ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं, वे ईश्वर की परिकल्पना किस रूप में करते हैं? महाभारत और

१— सांख्य सूत्र १/९६
२— सांख्य सूत्र ३/५६
३— सांख्य सूत्र ३/५७
४— साख्य सूत्र ३/५६
५— सांख्य सूत्र ५/९

गीता में सांख्य-दर्शन का जो प्रसंग उपलब्ध है, उसके अनुसार ईश्वर एक पृथक् तत्व है। वह सृष्टि का अधिष्ठाता नहीं, मात्र अध्यक्ष है। वह नित्य है, जन्य नहीं। लेकिन विज्ञानभिक्षु और उनके परवर्ती सांख्याचार्यों ने नित्य ईश्वर का खण्डन करते हुए जन्य ईश्वर का मण्डन किया है। जन्य ईश्वर ही प्रकृतिलीन एवं सर्वज्ञ है। सांख्य प्रवचन सूत्र में ऐसे ईश्वर को सिद्ध माना गया है।

उपरोक्त विवेचन से इतना स्पष्ट है कि सांख्य-दर्शन के प्रामाणिक ग्रन्थों में निरीश्वरवाद और ईश्वरवाद दोनों मतों की पुष्टि के लिए पर्याप्त तर्क मौजूद है। पुनश्च, प्रश्न यह उठता है कि किसी एक निष्कर्ष को निरपेक्ष रूप से सत्य मान लेने पर क्या विसंगतियां आ सकती है? द्वितीय भाग में इन्हीं विसंगतियों पर प्रकाश डालने का प्रयास किया जायेगा।

सांख्य-दर्शन को निरीश्वरवादी मान लेने पर मुख्यतः जो विसंगतियां सामने आती है उनमे दो अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं- (१) पहली विसंगति दुःखत्रय से सम्बन्धित है। सांख्य-दर्शन में दु:खत्रय की महत्ता इस बात से जानी जा सकती है कि सांख्य-कारिका की शुरूआत ही दुःखत्रय के नाश की जिज्ञासा से होती है। सांख्यकारिकाकार ईश्वर कृष्ण लिखते हैं– "दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा।"[1] सांख्यतत्व कौमुदी मे तीनों दुःखो की व्याख्या निम्नलिखित शब्दों मे की गई है– "दुःखानां त्रयं दुःखत्रयम् तत् खलु आध्यात्मिकम् आधिभौतिकम् आधिदैविकंच।"[2]

अर्थात् दुःखों का त्रय ही दुःखत्रय है। दुःखत्रय है–आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक। सांख्य दर्शन को निरीश्वरवादी मान लेने पर आध्यात्मिक और आधिभौतिक दुःखों की व्याख्या तो की जा सकती है परन्तु आधिदैविक दुःखों की व्याख्या नही हो सकती। आधिदैविक दुःखों की व्याख्या करते समय तत्वकौमुदी में कहा गया है – "आधिदैविक तु यक्ष राक्षस विनायक ग्रहाद्यावेशानिबन्धनम्।"[3]

अर्थात् आधिदैविक दुःख यक्ष, राक्षस विनायक (विभिन्न देवी-देवता) एवं ग्रह आदि के आवेश के कारण होता है। यहां प्रश्न उठता है कि सांख्य को निरीश्वरवादी

१— सांख्य कारिका।
२— सांख्य तत्व कौमुदी, पृ० १२
३— सांख्य तत्व कौमुदी, पृ० १३

मान लेने पर उन देवी-देवताओ (अनेकेश्वरवाद) की व्याख्या कैसे करेगे, जिनके आवेश के कारण आधिदैविक दु खो की अनुभूति होती है। यहा हमारे सामने दो विकल्प हैं- प्रथम आधिदैविक दु ख के कारणो मे विनायक (देवी—देवीताओ) को निकाल दिया या द्वितीय साख्य को ईश्वरवादी दर्शन स्वीकार कर लिया जाय।

(२) सांख्य दर्शन को निरीश्वरवादी मान लेने पर दूसरी समस्या उठती है, वह उसमें प्रमाण–विचार से सम्बन्ध है। सांख्य ज्ञान के साधन के रूप मे तीन प्रमाणों की सत्ता स्वीकार करता है — प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द। यहां भी प्रत्यक्ष और अनुमान को प्रमाण के रूप में स्वीकार करने तक कोई समस्या नहीं उठती। साख्य शब्द प्रमाण की व्याख्या मे उसे लौकिक और वैदिक शब्द में विभाजित करता है। वैदिक शब्द को प्रमाण मानना, साख्य के निरीश्वरवादी निष्कर्ष में सबसे बड़ा बाधक है।

वैदिक वाक्यो से हमे उन अगोचर विषयों का ज्ञान होता है, जो प्रत्यक्ष और अनुमान पर आधारित नही होते। ऐसे वाक्यों में वे त्रुटिया नही होती जो लौकिक वाक्यों मे होती है। वे भ्रान्ति रहित और स्वतः प्रमाण है-

यहा साख्य-दर्शन दो विरोधी तथ्यों का प्रतिपादन करता है। प्रथम वह किसी ईश्वर या ब्रह्म को जगत् का उपादान या प्रयोजन कारण नही मानता है। द्वितीय वह श्रुति या वेदवाक्य को प्रमाण मानता है। वेदवाक्य ईश्वर या ब्रह्म को उपादान या प्रयोजन कारण स्वीकार करता है — जैसा कि मुण्डकोपनिषद् मे कहा गया है।

> "यथोर्णनाभि सृजते गृह्णते च,
> यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति।
> यथा सतः पुरूषात् केशलोमानि,
> तथाक्षरात् सम्भवन्तीह विश्वम्॥[1]

उपरोक्त विवेचन के अनुसार ब्रह्म ही जगत् का निमित्त और उपादान कारण है। ऐसे अनेकानेक वाक्य वेदों मे बिखरे पडे हैं, जो ब्रह्म या ईश्वर को जगत् का कारण मानते हैं। अब यहा पुनः दो विकल्प बनते है। या तो यह माना जाय कि साख्य-दर्शन

१— मुण्डकोपनिषद— १/१६

श्रुति को प्रमाण न माने, पर ऐसी स्थिति मे पुरुष का अस्तित्व सिद्ध नही हो पायेगा। या वह ईश्वर का कर्तव्य (वेदवाक्यो के आधार पर) स्वीकारे/श्रुति (शब्द) को प्रमाण के रूप मे स्वीकार किया जाय और अकारण ही ईश्वर के कर्तृव्य को अस्वीकार करना एक विसगति है। सम्भवतः इन्ही विसगतियो ने विज्ञान भिक्षु और परवर्ती साख्याचार्यो को ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करने के लिए विवश किया है।

साख्य दर्शन के प्रामाणिक ग्रन्थो मे प्रस्तुत ईश्वर के अस्तित्व के पक्ष और विपक्ष मे प्रस्तुत किये गये तर्कों और तत्सम्बन्धित विसगतियो के अवलोकन के बाद अब हम उन विद्वानो के निष्कर्षो का विवेचन कर सकते हैं जिन्होंने साख्य - दर्शन को निरीश्वरवादी माना है या जिन्होंने इसे ईश्वरवादी दर्शन स्वीकार किया है।

सांख्य – दर्शन को निरीश्वरवादी दर्शन कहने वालो मे प्रमुख रूप से डा० एस०एन० दास गुप्ता, वाचस्पति गैरोला, प्रो० सगमलाल पाडेय और देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय हैं। डा० एस०एन० दास गुप्ता और वाचस्पति गैरोला ने साख्य-दर्शन मे ईश्वरवादी तत्वो की पहचान के बावजूद भी बिना किसी ठोस के आधार पर साख्य दर्शन को निरीश्वरवादी बता दिया है। सांख्य को निरीश्वरवादी कहते हुए डा० एस०ए० दास गुप्ता लिखते है– "साख्य ईश्वर का अथवा किसी बाहरी सत्ता का अस्तित्व नही मानता। उसके अनुसार तत्वों मे स्पदन अथवा गति की प्रवृत्ति अन्तर्निहित है।"[1] ठीक इसी प्रकार वाचस्पति गैरोला भी लिखते है– "यद्यपि ईश्वर के विरोध मे साख्यकारो ने जो शकाऐं तथा कारण प्रस्तुत किये है, वे अधिक तर्कसगत नही, फिर भी ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध करने वाले साख्यकारो की अपेक्षा अधिक स्थायी है।"[2]

यहां वाचस्पति जी ने जिन शंकाओं और कारणो का जिक्र किया है उसका विवेचन नही है। साथ ही तुलनात्मक अध्ययन मे वे वस्तुनिष्ठता कायम नही रख पाये। अपेक्षा तो यह होती है वे ईश्वर विरोधी तर्कों को ईश्वर विषयक तर्कों से सुस्पष्ट या स्थायी प्रमाणित करने के लिए कोई ठोस तर्क प्रस्तुत करते, जो वह नही

१— एस०एन० दास गुप्ता–भारतीय दर्शन का इतिहास, पृ० २४२

२— वाचस्पति गैरोला – भारतीय दर्शन, पृ० २७६

कर पाये। अत उनका निष्कर्ष अपने आप में अनेकानेक तथ्यो को पहचानने और जानने के बाद भी आंशिक और व्यक्तिनिष्ठ हो जाता है। अपने व्यक्तिनिष्ठ दृष्टिकोण के कारण ही सांख्य द्वारा ईश्वर के अस्तित्व के विषय में शंकाओं और कारणो को तर्कसंगत न मानने के बावजूद भी स्थायी मान लेते हैं।

संगमलाल पाण्डेय– एक विद्वान् जिन्होने सांख्य-दर्शन मे सर्वेश्वरवाद और एकेश्वरवाद तक के संकेत खोज डाले हैं। किन्तु सांख्यकारिका और तत्वकौमुदी की प्रमाणिकता से प्रभावित हो, निष्कर्ष यही निकाला कि सांख्य दर्शन को निरीश्वरवादी कहना ही तर्क संगत होगा। जैसा कि उन्होने लिखा है – "सांख्य की प्रबल मान्यता निरीश्वरवाद की है। परवर्ती सांख्य ने जो पुरुष विशेष के अर्थ मे ईश्वर को माना है, वह वस्तुत. ईश्वरवाद की अपेक्षा निरीश्वरवाद के अधिक निकट है, क्योकि ईश्वरवाद सृष्टि का अनिवार्य सम्बन्ध ईश्वर से मानता है और सांख्य योग का ईश्वर इसे नही मानता।"[1]

यदि उपरोक्त के विश्लेषण से सहमत होकर सांख्य – दर्शन को निरीश्वरवाद के निकट मान लिया जाय और यहा विश्लेषण पाश्चात्य दार्शनिक इमेन्युअलकाण्ट पर लागू किया जाय तो काण्ट को भी अज्ञेयवादी न कहकर निरीश्वरवाद के निकट मानना पड़ेगा। काण्ट भी ईश्वर के अस्तित्व को सृष्टि से अनिवार्य रूप से सम्बद्ध नहीं पाता है और न ही उसके ज्ञान की सभावना को स्वीकारता है, फिर भी हम उसे निरीश्वरवादी न कहकर अज्ञेयवादी कहते हैं।

सांख्य दर्शन को सशक्त शब्दो में निरीश्वरवादी कहने वाले देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय ने इस विश्लेषण पर ज्यादा जोर दिया कि परवर्ती सांख्य मे छिटपुट ईश्वर सम्बन्धी विचार सांख्य–दर्शन के मूल विचार नही बल्कि परवर्ती तथाकथित सांख्याचार्यों द्वारा सांख्य–दर्शन पर थोपे गये उनके व्यक्तिगत विचार हैं। विज्ञानभिक्षु का उदाहरण देते हुए उन्होने कहा है कि विज्ञानभिक्षु और गौड़ पाद जैसे दार्शनिक चूंकि मूलत वेदान्ती थे। अतः उन्होंने सांख्य-दर्शन की मूल विचारधारा पर वेदान्त के कुछ सिद्धान्त आरोपित कर दिये। उनके अनुसार ईश्वर कृष्ण की सांख्यकारिका ही सांख्य-दर्शन की प्रामाणिक पुस्तिका है।[2]

१— संगमलाल पाण्डेय– भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण, पृ ०२९३–९४

२— देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय - इंडियन एथिज्म,

बहुतेश्वराय के विचार को अगर सत्य मान भी लिया जाय तो क्या यह समस्याए हल नहीं हो पायेगी जो सांख्य को निरीश्वरवादी मानने पर ईश्वर कृष्ण की साख्यकारिका से ही उपज रही हैं जैसे दुःखत्रय मे आधिदैविक दुःख की कल्पना और वेद को प्रमाण मानना तथा वेदवर्णित ईश्वर - कर्तृत्व का खण्डन करना। इसका कोई स्पष्ट उत्तर उपलब्ध नहीं है।

सांख्य को निरीश्वरवादी दर्शन मानने वाले विद्वानो के तर्कों की परीक्षा के बाद हम उन मतों का विवेचन करेंगे, जिन्होने सांख्य - दर्शन मे ईश्वरवाद का तत्व खोजने का प्रयास किया है। इन विद्वानों मे प्रमुख है – डा० राममूर्ति शर्मा, डा० राधाकृष्णन्, डा० एन०के० देवराज और डा० भरत सिंह उपाध्याय। यहां एक बात स्पष्ट कर देना अत्यावश्य है कि इन सभी विद्वानों ने ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकारने के लिए तर्क खोजने का प्रयास विज्ञानभिक्षु और परवर्ती साख्याचार्यो के ग्रन्थो के आधार पर किया है।

डा० राममूर्ति शर्मा लिखते हैं – "सांख्य में यद्यपि कर्तृत्वशक्ति से युक्त ईश्वर की सत्ता नही मिलती है, पर जगत् के साक्षी रूप में ईश्वर का वर्णन अवश्य मिलता है।"[1] डा० शर्मा के कथन से स्पष्ट है कि उन्होंने 'साक्षीरूप' के आधार साख्य-दर्शन को सेश्वर सांख्य माना है। स्पष्टतः ये ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकारने के लिये ईश्वर व सृष्टि के अनिवार्य सम्बन्ध को जरूरी नहीं समझते हैं। इसी कडी मे आगे बढ़ते हुए डा० राधाकृष्णन् ने तो साख्य-दर्शन में बहुदेववाद के तत्व खोज डाले। उनका कहना है कि- "वैदिक ऋचाओ के पुरातन देवता हेतुवादी साख्य की छत्रछाया मे रह सकते हैं, किन्तु वे नित्य स्वरूप में नही है। सांख्य एक व्यवस्थापक ईश्वर की कल्पना तो करता है, जो सृष्टि रचनाकाल मे प्रकृति क क्रमिक विकासो की व्यवस्था स्वीकार करता है। शिव, विष्णु इत्यादि इसी व्यवस्थापक ईश्वर की प्रतीति मात्र है।[2]

सांख्य - दर्शन के विभिन्न प्रामाणिक ग्रन्थो के आधार पर दो विरोधी विचार

१— राममूर्ति शर्मा – अद्वैतवेदान्त, पृ० २२

२— राधाकृष्णन् – भारतीय दर्शन, बा० ११, पृ० ३१७—३३

धाराओ का और उनके सार का संक्षिप्त विवरण डा० नन्दकिशोर देवराज इस प्रकार प्रस्तुत करते है – 'ईश्वर नही है, ऐसा सिद्ध करने की चेष्टा साख्य ने कही नही की है। सृष्टि, प्रलय और कर्मविपाक में ईश्वर की आवश्यकता नही है इन तर्कों को लेकर ईश्वर को सिद्ध नही किया जा सकता। साख्य का केवल यही अनुरोध है। योगदर्शन मे ईश्वर को अधिक महत्व दिया गया है, परन्तु उसमे भी ईश्वर प्रकृति और पुरुष का रचयिता या आधार नही है। इसलिए हम साख्य–योग को न तो अनीश्वरवादी ही कह सकते है, न न्याय वैशेषिक की तरह ईश्वरवादी ही।'[1]

यदि सांख्य मे ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए कोई तर्क नही दिया गया है, तो इतना ही सत्य दूसरा पहलू भी है और वह यह कि साख्य-दर्शन मे ईश्वर के अस्तित्व को नकारने के लिए भी कोई तर्क नही दिया। भरत सिंह उपाध्याय यह मानते है कि यद्यपि साख्य दर्शन मे ईश्वर के कर्तव्य को नकारा गया, किन्तु ईश्वर के अस्तित्व को नहीं। ईश्वर के कर्तव्य को भी उन्होने क्यो नकारा, इसका कारण बताते हुए वे लिखते है—

'साख्य प्रवचन सूत्र के ईश्वर सिद्धे को लेकर यह भलीभांति कहा जा सकता है कि सूत्रकार ने ईश्वरासिद्धे ही कहा, ईश्वराभावात् नही। अत सभवत वे ईश्वर-वादी रहे हो, किन्तु जिस दृष्टिकोण से वे ज्ञान के अनुसधान मे प्रवृत्त हुए, उसके प्रति सच्चे रहते हुए वे सभवत ईश्वर के कर्तृत्ववाद की ओर प्रवृत्त नही हो सकते है।'[2]

उपरोक्त विश्लेषण सत्य हो सकता है, किन्तु निश्चयात्मकता के बारे मे कुछ नही कहा जा सकता है। यहा तो सिर्फ एक सभावना ही व्यक्त की जा सकती है। इसी प्रकार के कुछ निष्कर्ष बालगंगाधर तिलक द्वारा गीता रहस्य मे प्रस्तुत किये गये है।

विभिन्न विरोधी कथनो, विचारो और विश्लेषणो के बीच से कोई भी निष्कर्ष निकलना अत्यन्त दुष्कर है। फिर भी इतना तो कहा जा सकता है कि साख्य दर्शन

१— एन०के० देवराज एव रामानन्द तिवारी—भारतीय दर्शन का इतिहास पृ० ३०६

२— भरत सिंह उपाध्याय— बौद्ध दर्शन और अन्य भारतीय दर्शन, पृ० १२४

न तो स्पष्ट रुप से निरीश्वरवादी है और न ईश्वरवादी कहा जा सकता है। निरीश्वरवादी सांख्य बनने के लिए यह अत्यावश्यक हैं कि सांख्य - दर्शन मे ईश्वर के अस्तित्व के विरोध में स्पष्ट और प्रबल तर्क उपलब्ध हो, जो कि नही है। ठीक इसी प्रकार सांख्य को ईश्वरवादी भी नही कहा जा सकता है। किसी भी दर्शन को ईश्वरवादी कहे जाने के लिए एक अनिवार्य शर्त है— ईश्वर के ज्ञान की सभावना को स्वीकार करना। किसी भी सांख्याचार्य ने किसी भी मान्य प्रमाण द्वारा ईश्वर ज्ञान सभव नही माना है। अतः सांख्य को ईश्वरवादी दर्शन भी नही कहा जा सकता है। इन दोनों निष्कर्षों से पृथक् सांख्य का ईश्वर विचार अज्ञेयवादी जान पड़ता है और इस विषय में प्रो० मैक्समूलर का विचार यथोचित प्रतीत होता है कि – 'कपिल ईश्वर असिद्धि नही उसके सिद्धि के तार्किक प्रमाणों का अभाव मानते हैं। इस दिशा में वे पश्चिमी दार्शनिक काण्ट के अत्यन्त समीप है। कपिल ने ईश्वर का खण्डन करके के लिए कोई तर्क नही दिया है।"[1]

डा० इन्दुदेव पाण्डेय
प्रवक्ता- दर्शन शास्त्र विभाग
हे०न०ब० गढ़वाल विश्वविद्यालय
श्रीनगर (गढ़वाल) उ०प्र०

१— मैक्समूलर – भारतीय दर्शन, बा० १११, पृ० ८८

वैदिक साहित्य में अद्वैत तत्व

सुश्री अर्चना श्रीवास्तव
बुद्ध नगर रुस्तमपुर गोरखपुर (उ०प्र०)

यह सर्वविदित है कि हमारे यहां दर्शन का व्यवस्थित आरम्भ उपनिषदो में हुआ परन्तु सूक्ष्म अध्ययन करने पर यह ज्ञात होता है कि यद्यपि स्थूल रूप मे वेदो का प्रतिपाद्य विषय देवों की स्तुतियां एवं वैदिक कर्मकाण्ड ही प्रतीत होता है तथापि वैदिक वाङ्मय मे दर्शन के उन सूक्ष्म सिद्धान्तों का भी प्रतिपादन किया गया है, जिनको आधार बना कर परवर्ती षड्दर्शन मे पुष्कल विचार - मथन हुआ है। चर्म सत्ता की भिन्न–भिन्न अभिव्यक्तियो का विशद एवं सुरुचिपूर्ण वर्णन मिलने के कारण इन संहिताओ मे अनेक प्रकार की दार्शनिक विचार धाराओ की कल्पना की गई। यह एक निर्विवाद तथ्य है कि भारतीय दार्शनिक विचारधारा पर वेदों का अत्यधिक प्रभाव पड़ा है।

प्राचीन वैदिक सूक्तों में एक उद्दाम जिज्ञासा का भाव दृष्टिगोचर होता है। ऋक् सहिता में यत्र - तत्र दर्शन सम्बन्धी प्रश्न उठाये गये हैं। वैदिक ऋषि उस सर्वोच्च सत्ता के अन्वेषण मे प्रयत्नशील थे, जो सबके ऊपर शासन करती है। वैदिक देव शास्त्र पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि अनेक देवताओ की स्वीकृति पर बल दिया गया, किन्तु इस विशाल देव - मण्डल से वैदिक ऋषि की जिज्ञासा का समाधान न हो सका।

वेदों को बहुधा अनेकेश्वरवादी कहा जाता है क्योंकि ऋग्वेद की स्तुतियो मे उपासनार्थ बहुदेव की कल्पना है। किन्तु इस विचार धारा से सहमत होना तथ्य संगत नही है क्योकि वैदिक सूक्तों के अनुशीलन से यह स्पष्ट होता है कि वैदिक ऋषियों ने जिस समय जिस किसी देवता की उपासना की, उस समय उसको ही सर्वश्रेष्ठ माना। इस प्रकार कभी इन्द्र को, कभी अग्नि को तथा कभी वरुण को सर्वशक्तिमान ईश्वर समझकर स्तुति की गई है। धार्मिक विश्वास की इस अवस्था को 'मैक्समूलर ने Henotheism (एकाधिदेववाद) कहा है। इसे एकत्व की दिशा में जाने की सहज प्रवृत्ति की अचेतन अभिव्यक्ति मानते हुये उन्होंने **'बहुदेववाद'** और और **'एकेश्वरवाद'** के मध्य विकास की एक निश्चित अवस्था कहा।

पश्चिमी विद्वानो ने धर्म और दर्शन की विचार शृंखला के विकास के तीन स्तर माने है –

(i) बहुदेववाद (Polytheism)
(ii) एकेश्वरवाद (Monotheism)
(iii) अद्वैतवाद या एकवाद (Monism)

वैदिक धर्म मे बहुदेववाद एकेश्वरवाद अथवा अद्वैतवाद मानने के सम्बन्ध मे विद्वानो मे गहरा मतभेद है। परन्तु यह एक तथ्य है कि ऋक् संहिता के प्राचीनतम अशो मे ही अनेक देवों से ऊपर एक सर्वोच्च देव की अवधारणा दृष्टिगोचर होती है। यद्यपि विश्व सत्ता अथवा ससार की प्रेरक शक्ति की अन्वेषणा के फलस्वरूप ऐक्यवाद की निश्चित विचारधारा उपनिषदो मे मिलती है तथापि इस सिद्धान्त के कुछ विचार बीज रूप मे संहिताओ मे भी प्राप्त होते है। उपनिषदो एव वेदान्त - दर्शन मे विशद रूप से विवेचित अद्वैतवाद या एकवाद का पूर्वाभास संहिता के युग मे भी अनेकश. प्राप्त होता है। अद्वैतवाद का उद्देश्य जीव एव ब्रह्म के सम्बन्धो पर उठने वाले प्रश्नो का समाधान करते हुये उनकी एकता का प्रतिपादन करना है। जीव एव ब्रह्म दो नही है, इनमे द्वैत नही है, यही अद्वैतवाद है।

वैदिक काल की मुख्य जिज्ञासा एक सर्वश्रेष्ठ देवता की ही नहीं, वरन् उस शक्ति की खोज थी जिसकी प्रेरणा से ससार के स्थावर एव जगम सभी पदार्थ अपने-अपने नियमानुसार स्वकार्य में लगे रहते है। इसलिये अनेक देवो मे कौनसा देव उपास्य है यह प्रश्न सामने आया —

हिरण्यगर्भ समवर्तताग्रे
भूतस्य जात पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवी द्यामुतेमा,
कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

(ऋ० १०/१२१/१)

इस अन्वेषण के फलस्वरूप हम कभी **'वरुण'** मे ससार के कर्त्ता, सरक्षक एव **'ऋतस्य गोपाः'** की झलक पाते है, तो कभी **विश्वकर्मा** मे विश्व-कर्तृत्व का और कभी **प्रजापति** और **हिरण्यगर्भ** मे ससार के स्रष्टा के रूप दिखलाई पडते है।

धीरे - धीरे ऋषियो को विश्व - सत्ता के ऐक्य का आभास हुआ और वे दृढ निश्चय पर आरुढ हो गये कि सत् एक ही है। ऋग्वेद मे बहुत से ऐसे मन्त्र पाये जाते हैं सभी देवताओ को एक ही सत्ता के भिन्न - भिन्न रूप या शक्ति कहा गया है जिसे विद्वान् भिन्न - नामों से पुकारते हैं—

एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति।
अग्नि यम् मातरिश्वानमाहु.॥

(ऋ० १/१६४/४,६)

ऋक् संहिता में पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा आकाश में पृथिव्यग्नि, वैद्युताग्नि तथा सौराग्नि के रूप में एक ही अग्नि की अवधारणा प्राप्त होती है। एक ही सत् तत्व नाना देवो के रूप में है।

प्रारम्भिक काल मे वरुण **सर्वोच्च नैतिक देव** के रूप में प्रतिष्ठित था। वह मानव और प्रकृति, इहलोक और परलोक सभी का स्वामी था। इससे नैतिक एकेश्वरवाद का मार्ग प्रशस्त हो गया था। किन्तु परवर्ती काल मे वरुण की प्रतिष्ठा कम होने लगी और भारत में नैतिक एकेश्वरवाद के स्थान पर **'आध्यात्मिक एकेश्वरवाद'** का विकास हुआ। आध्यात्मिक एकेश्वरवाद का सर्वोतम उदाहरण **'हिरण्यगर्भ–प्रजापति–सूक्त'** है।

संहिताओ में अद्वैतवादी विचारधारा के दो पृथक् रूप प्राप्त होते है – एक सर्वेश्वरवाद के रूप में और दूसरा दार्शनिक कारणता के सिद्धान्त की स्वीकृति के रूप में। सर्वेश्वरवादी विचारधारा में परमेश्वर का प्रकृति से अभेद माना जाता है। यहां परमेश्वर प्रकृति मे पूर्णतया व्याप्त है। यह विचारधारा पाश्चात्य दर्शन मे **'सर्वेश्वरवाद'** के नाम से विख्यात है। इसका उत्कृष्ट उदाहरण ऋग्वेद के दशम मण्डल का **'पुरुष–सूक्त'** है। पुरुष ही एक मात्र सत् है। उसके हजार सिर है, हजार आँखे हैं और हजार पैर हैं। उसने चारो ओर से इस पृथ्वी को घेर रखा है। जो कुछ है या था और जो कुछ होगा वह सब पुरुष ही है। पुरुष अमरों तथा अन्नोपजीवियों का ईश्वर है—

सहस्रशीर्षा पुरूष. सहस्राक्ष सहस्रपात् ।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥१॥
पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम् ।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्ने नातिरोहति ॥२॥
एतावानस्य महिमातो ज्यायाँश्च पुरूषः ।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्याऽमृतं दिवि ॥३॥

(ऋ० १०/९०)

मानवीय इतिहास में प्रायः यही 'अद्वैत' की प्रथम अनुभूति है। इसी विचारधारा की एक और स्पष्ट अभिव्यक्ति ऋक् - सहिता के उस सूक्त में मिलती है जहा 'अदिति' को द्यौस्, अन्तरिक्ष माता, पिता, पुत्र, सौर देवों, सारे मानवों में जो कुछ जाता है और जो कुछ भावी है सभी के रूप मे देखा गया है। (ऋ० १/८६/१०)

दूसरे प्रकार के एकत्व की धारणा का प्रमुख उदाहरण **"नासदीय सूक्त"** (ऋ० १०/१२९) में मिलता है। यह सूक्त अपने दार्शनिक विचार के कारण विद्वानो में अत्यधिक प्रशंसित हुआ है। नासदीय सूक्त में निर्गुण ब्रह्म का सर्वप्रथम दर्शन होता है। यहाँ कवि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति एक मूल कारण से मानता है तथा उसके स्वरूप को निर्धारित करने की चेष्टा करता है—

'नासदासीन्नो सदासीत तदानी
नासीद्रजो नो व्योमा परो यत् ॥
किमावरीवः कुहकस्य शर्मन् ।
नाम्भः किमासीद् गहनं गभीरम् ॥" (ऋ० १०/१२९/१)

अर्थात् जो कुछ है, वह पहले नही था, जो कुछ नही है, वह भी नही था। न पृथ्वी थी न आकाश। न उसके परे स्वर्ग लोक। किसने आवृत्त कर रखा था? वह कहां था? और किसके आश्रय में था? क्या वह गम्भीर जल था? जिसमें यह सब स्थिर था। अन्त में कहा गया है—

इयं विसृष्टिर्यत् आवभूव।
यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्
सो अङ्गवेद यदि वा न वेद ॥

(ऋ० १०/१२९)

नासदीय सूक्त के आरम्भ में सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में उन्नत सिद्धान्त की स्थापना है। परमात्मा को जो विश्व की पृष्ठभूमि में है हम सत् या असत् किसी भी रूप मे ठीक-ठीक नही जान सकते। इस सूक्त में दो अत्यधिक सतर्कता से प्रयुक्त पद हैं 'तत्' और 'एकम्'। ये परम तत्त्व के भावात्मक और एकात्मक स्वरूप के अतिरिक्त अन्य किसी बात की ओर संकेत नहीं करते। विचार का यह स्तर हमें अद्वैतवादी चिन्तन के द्वार पर पहुंचा देता है। जो उपनिषदों में चरम परिणति प्राप्त करता है।

ऋग्वेद का **'वागाम्भृणीय सूक्त'** (ऋ१ १०/१२५) ब्रह्म ज्ञान की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण है। इस सूक्त के देवता परमात्मा और मन्त्रद्रष्टी ऋषिका अम्भृण पुत्री वाक् है। जब जीव को परमात्मा के स्वरूप का तात्त्विक ज्ञान हो जाता है तब उसमें और परमात्मा मे अभेद स्थापित हो जाता है। वह अपने परमात्मा की दिव्य शक्तियों का अनुभव करने लगता है। यही स्थिति इस सूक्त की ऋषिका 'वाक्' की हो गई थी।

अथर्व वेद के **'स्कम्भ सूक्त'** (अथर्व वेद काण्ड १०/ सूक्त ७/८) और **"उच्छिष्ट सूक्त'** (अथर्व० ११/६ मे) यह ऐक्यवाद और भी स्पष्टहै। स्कम्भ' विश्व का कारण है। वह सर्वव्यापी और सर्वेश्वर है। स्कम्भ को हीविद्वान् लोग 'आत्मा' कहते हैं। 'उच्छिष्ट' स्पष्टतः ब्रह्म का दूसरा नाम है, उसी पर सारा लोक अवलम्बित है।

इस ऐक्य भाव का विकास आगे चल कर उपनिषदों में हुआ है। उपनिषदों में उसका पुरुष रूप नही रहा। उपनिषदों में उसे सत्, आत्मन्, या ब्रह्मन् कहा गया है। संसार इसी सत् से उत्पन्न हुआ है, इसी पर आश्रित है।

नेह नानास्ति किञ्चन्।
तत्त्वमसि।
अहं ब्रह्मास्मि।
सर्वं खल्विदं ब्रह्म।

उपनिषदों के ये वाक्य सिद्ध करते है कि संसार में एक ही सत्ता है और इसका नानात्व असत्य है। आत्मा या ब्रह्म ही एक मात्र सत्य है। 'आचार्य शङ्कर' के

अनुसार उपनिषदों में विशुद्ध अद्वैत की शिक्षा दी गई है। उपनिषदों में विचार का केन्द्र वैदिक देवताओं से हट कर मनुष्य की आत्मा पर गया है। आत्मा का ऐसा सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है जिसमें बाहरी उपलब्धियां छूट जाएं और केवल मूल तत्व रह जाय। सबका मूलाधार आत्म - तत्व है। आत्मा शुद्ध चैतन्य स्वरूप है। इस तत्व को कभी ब्रह्म, कभी आत्मा, कभी केवल सत् कहा गया है।

वेद तथा उपनिषद् के बाद सूत्र साहित्य की उत्पत्ति हुई। दार्शनिक विचारों का सुव्यवस्थित तथा क्रमबद्ध रूप सर्वप्रथम सूत्र साहित्य मे ही पाया जाता है। बादरायण के ब्रह्म-सूत्र में वेदों एवं उपनिषदों के दार्शनिक विचारो का संग्रह है। सूत्रों का अर्थ बोधगम्य न होने के कारण उनकी व्याख्या के लिये भाष्य लिखे गये। शङ्कराचार्य, रामानुज, श्रीकण्ठ आदि भाष्यकारो ने ब्रह्म सूत्र के भिन्न-भिन्न भाष्य लिखे और अपने-अपने मतों की पुष्टि की। इस प्रकार उनके सम्प्रदाय बन गये जिनमें आचार्य शङ्कर का अद्वैत वेदान्त सबसे अधिक प्रसिद्ध है।

इस प्रकार प्राचीन वैदिक सूक्तो मे जिस अद्वैतवाद का सूक्ष्म आभास हमे मिलता है, वह निरन्तर पल्लवित एवं पुष्पित होते हुये आज आस्तिक दर्शन का एक विशिष्ट सम्प्रदाय बन गया है। कालान्तर में जिस विषय पर इतना अधिक चिन्तन हुआ और हो रहा है वह विषय हमें मिला कहा से ? इस गूढ का विषय जो उद्गम् स्रोत है वह प्रायः उपेक्षित सा हो गया है क्योंकि वह आदि स्रोत सामान्यतया देवो का स्तुति ग्रन्थ ही माना जा रहा है। परन्तु वहा पर यत्र-तत्र जो दर्शन सम्बन्धी सामग्री बिखरी है वह वैदिक ऋषियों की मानसिक परिपक्वता की सर्वोत्तम उदाहरण है। निःसन्देह इसमें अद्वैत की धारणा अनुस्यूत है जो परवर्ती काल में चरमोत्कर्ष को प्राप्त अद्वैत की अवधारणा की आधार भूमि है।

नोटः— सम्पादक से सहमत होना आवश्यक नहीं है। लेखिका को दूसरे पक्ष का अध्ययन करना चाहिये।

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

1— M. Hiriyanna — Outlines of Indian Philosophy.

2— डॉ० सूर्यकान्त — वैदिक धर्म और दर्शन

3— Max Muller — Six Systems of Indian Philosophy

4— ऋग्वेद — प्रथम मण्डल, दशम मण्डल

5— अथर्ववेद — काण्ड - १०, काण्ड — ११

6— छान्दोग्य उपनिषद्

7— Deussen — Philosophy of tha Upanisads

8— S. Radhakrishnan — Indian Philosophy

डा० शिवशरण का संस्कृत– हास्य-व्यंग्य

लेखक गोपाल द्विवेदी
५१- विनयनगर खण्ड - १
जेल मार्ग, ग्वालियर म०प्र०–४७४०१२

संस्कृत में व्यंग्य — लेखन की परम्परा यद्यपि प्राचीन काल से ही चली आ रही है, किन्तु वह केवल सामान्य हास–परिहास और फुटकल रूप में ही सीमित रही है। उदाहरणार्थ किसी कवि ने लिखा—

'क्षीरोदधौ हरिः शेते, हरः शेते हिमालये ।
ब्रह्मा पद्मालये शेते, मन्ये मत्कुण - शकया ।।

अर्थात् विष्णु जी क्षीर - सागर में, शंकर जी कैलाश में एवं ब्रह्मा जी कमलासन मे इस हेतु शयन करते हैं, कि उन्हें खटमल न काट सके। वैसे इस व्यग्य की ध्वनि तो यथार्थ है, कि पराया खून चूमने वाले भगवान तक को नहीं छोड़ते, किन्तु उक्ति में जो प्रभावी सामर्थ्य होना चाहिये, उसका प्रायः यहां अभाव सा है। मध्यकाल में भी कुछ दक्षिणार्थी ब्राह्मणों, कायर क्षत्रियों, धनलोलुप वैश्यों एवं कायस्थों आदि पर भी व्यंग्य लिखे गये किन्तु जाति परक होने के कारण वे समाज में कोई प्रभाव नहीं छोड़ सके। इस बीच कुछ व्यंग्य तो ऐसे भी लिखे गये। जो अश्लीलता की कोटि मे पहुंचकर फूहड़ कथन मात्र बनकर रह गये। इस क्षेत्र में महाकवि क्षेमेन्द्र ने कुछ फुटकल व्यंग्य अच्छे लिखे हैं।

वर्तमान युग में हिन्दी में हास्य–व्यंग्य लेखन का पर्याप्त विकास हुआ है। आज बहुसंख्यक हिन्दी रचनाकार इस क्षेत्र में ही लगे दिख रहे हैं, किन्तु उनमे राजनयिक भ्रष्टाचार प्रशासन तंत्र की बुराइयों, स्वार्थ, धनलिप्सा, सामाजिक कुरीतियों एवं विविध बुराइयों पर प्रहार करके सफलता प्राप्त करने वाले कितने हैं, यह कह पाना कठिन है।

आजकल संस्कृत में भी नवीन शैली में हास्य–व्यंग्य लेखन प्रारम्भ हुआ है, किन्तु वह केवल फुटकल रचनाओं तक ही सीमित दृष्टिगत होता है। विगत कुछ वर्षों से ग्वालियर के डा० शिवशरण शर्मा द्विवेदी ने भी संस्कृत के हास्य–व्यंग्य लेखन का कार्य किया है, जो अद्यावधि रचित संस्कृत व्यंग्य–रचनाओं में एक विशेष महत्व

रखता है। यहां हास्य-व्यंग्य विद्या की अधिक सैद्धान्तिक चर्चा न करते हुये सीधे शिवशरण जी की सस्कृत-व्यंग्य रचनाओं के कतिपय अंश प्रस्तुत करते हुये ही कुछ कहने का प्रयास किया जा रहा है।

वर्ष १६४७ में भारत देश स्वतंत्र हुआ, तो जनता को शुभ परिवर्तन की बड़ी-२ आशायें होनी स्वाभाविक थी, किन्तु कुछ वर्षों के उपरान्त वे आशायें प्रायः आकाश कुसुम बनती दिखीं और आज तक आते-आते तो अनगिणित बलिदानों के उपरान्त प्राप्त वह बहुमूल्य स्वतंत्रता प्राय. स्वच्छन्दता के रूप में दृष्टिगत होने लगी। इस स्थिति का चित्रण शिवशरण जी ने अपनी प्रसिद्ध एवं व्यंग्य-रचना 'वयं स्वतन्त्राः' में किया है, जिसको कुछ पक्तियां प्रस्तुत हैं—

'वयमधुना भारते स्वतन्त्राः
वयं स्वतन्त्रा हट्टे पातुम्, नग्ना भूत्वा घट्टे स्नातुम्
नित्यमनेका हत्याः कृत्वा, भारत देशे क्वापि विहर्तुम्,
मत्वा पुन. विधान सभायाम् सरसमुपानद् वृत्तं रचितुम्
स्पष्टं सत्यमुपेक्ष्य पूर्णतो, भ्रान्तिकर भाषणं प्रदातुम्,
जातिवाद-दीक्षादाने नयविद्यागुरवो भृशं स्वतन्त्राः।''

अर्थात् आज हम भारत में पूर्ण स्वतंत्र हैं। हम खुले बाजार में पीने को स्वतन्त्र है, सार्वजनिक घाट पर नगे नहाने को स्वतन्त्र हैं, तथा नित्य अनेकों हत्यायें करके देश में कहीं भी घूमने को स्वतन्त्र हैं। विधान-सभाओं में रसमय जूता-पुराण की रचना मे भी स्वतंत्र हैं, और स्पष्ट सत्य की भी पूर्ण उपेक्षा करके भ्रान्ति-जनक भाषण देने को भी स्वतन्त्र हैं। साथ ही हमारे राजनीति के दिग्गज दीक्षा-गुरु जातिवाद का मंत्र देने में भी पूर्ण स्वतन्त्र हैं। स्पष्ट है कि, आज के परिवेश मे नित्य ही, कुछ ऐसे ही दृश्य देखने-सुनने को मिलते हैं। इन पर व्यंग्यकार का चुटीला प्रहार सर्वथा उचित है। इसी रचना में वे और लिखते हैं—

'आरक्षिणां स्वतंत्रा दण्डाः, परं स्वतन्त्रा दिग्गज-शुण्डाः
फलैः सहाद्य रूप्यके स्यातुम्, स्वयं स्वतंत्रा जाता अण्डाः,
भवितुं पृथक् स्वतंत्रा जाता, देहस्योदर-पद-भुजदण्डाः
मौनव्रत धारणे स्वतंत्रा विदुषामपि भारती प्रचण्डा,
अग्नौ शीतलता-सिद्ध्यर्थम्, बुद्धि जीविनो महास्वतंत्राः।'

अर्थात् आज पुलिस का डंडा स्वतंत्र है, दिग्गज लोगों के लंबे हाथ स्वतंत्र हैं, रुपये के सिक्के पर फर्रों के साथ बैठने में अण्डे भी स्वयंमेव स्वतन्त्र हो गये हैं। आज शरीर के हाथ, पैर तथा पेट भी पृथक् रूप से स्वतन्त्र हो रहे हैं, तथा इस स्थिति मे विद्वानों की वाणी भी मौन धारण करने में पूर्णतः स्वतन्त्र है। बुद्धिजीवी वर्ग भी आग को शीतल सिद्ध करने में महास्वतंत्र हो गया है। वस्तुतः समाज को अस्वस्थ बनाकर पंगु बना देने वाले बीमारियों के उक्त कीटाणुओं पर शिवशरण जी ने अपनी वाणी के कीटाणु नाशक रस का छिडकाव बहुत ही सुन्दर रूप मे किया है।

जैसे डा० शिवशरण भी भारतीय सस्कृति के पुजारी तथा देश के राष्ट्रीय गौरव के गान करने वाले सस्कृत कवि हैं जो हृदय में भारत को जगद्गुरु मानते है, किन्तु हम गीत तो अपने अतीत गौरव के गाये और आचरण उसके विपरीत करे, इस पर चोट करते हुये वे एक अन्य रचना में कहते है—

'महागुरुरहं भज में शरणम्
परम गुरोर्मे कुरु अनुसरणम्।
अहमुत्कोच - विकोराचार्यः जानाम्यस्या नैका सृतयः,
स्वीकृत्यैकामपि तासां क्षुद्रा अपि जायन्ते धनपतयः,
भज मामेवेच्छसि कर्तुं यदि ससुखमर्घता-सरितातरणम्॥
कार्यारंभो नहि विधीयते, मया कदापि निश्चिते काले
निश्चेष्टः तिष्ठामि सर्वदा, सजातेऽपि महाभूचाले,
भत्तो दीर्घसूत्रता - सूत्र ज्ञात्वा, कुरु सुखशय्या — वरणम्।२।
अहमेकास्मि सुत-व्यापारी, पुत्रवधु—मारणे प्रसिद्धः
बहुशः पुनर्विवाह कृत्वा, बहु-यौतुक-हरणे सन्नद्धः,
तिष्ठ मदीये शिष्यत्वे, कर्तुं वाञ्छसि यदि परधन—हरणम्।३।

अर्थात् मै एक महागुरु हूं। मेरी शरण मे आकर मित्र! मेरा सादर अनुसरण कर। मै घूस विद्या का परमाचार्य हू तथा रिश्वतखोरी के इतने तरीके जानता हूं कि यदि तू उनमें से एक भी सीख ले, तो रंक से करोड़पति बन सकता है। अतः यदि मंहगाई-रूपी नदी को सुख से पार करना चाहता हो, तो शीघ्र मेरा शिष्य बन जा।

मैं निश्चित समय पर कभी कोई कार्य नही करता। दुनिया मे भूचाल ही क्यो न आ जाय पर मैं सदा निश्चेष्ट बैठा रहता हूं। मित्र ! मुझ से ही कार्य मे विलम्ब करने का सूत्र सीखकर आराम से शय्या मे लेटकर नीद ले।२। पुत्र-वधुओं के मारने मे दक्ष एव पुत्रो का व्यापारी भी मै उत्तम कोटि का हू। अनेक पुर्नविवाह करके दहेज का ढेर एकत्र करने मे भी मैं निरन्तर तत्पर रहता हूं। अत यदि तुझे दूसरे की गांठ का धन ऐंठने की कला सीखनी हो, तो मेरा शिष्यत्व शीघ्र स्वीकार कर।३।

कवि ने भारतीय समाज में तेजी से फैल रहे उपर्युक्त दुर्गुणो का पर्दाफाश करके अपनी व्यंजना द्वारा उनसे सजग होकर दूर होने की ही तो सशक्त प्रेरणा दी है।

'दिवसो न शोभते यथात्र भास्करं विना,
हट्टो न शोभते तथैव तस्कर विना।
सौजन्य - शील - सत्यभाषणादयो वृथा,
वैदुष्यमत्र शोभते न मत्सर विना।
वैशाख–मास उच्यते लोकेषु वसन्त',
शोभां न याति सोऽपि गर्दभ-स्वरं विना।'

अर्थात् जैसे दिवस विना सूर्य के सुशोभित नही होता, वैसे ही बाजार भी चाहे जितना बड़ा और सुन्दर क्यो न हो, वह बिना तस्कर–व्यापारियो के सुशोभित नही होता। किसी विद्वान् मे सौजन्य, सत्य तथा शील आदि लाख सद्‌गुण क्यो न हो किन्तु वह तब तक शोभा को प्राप्त नही हो सकता, जब तक उसमे ईर्ष्या रूपी सद्‌गुण न समाहित हो जाय। इसी प्रकार वैशाख के महीने को लोग लाख बार वसन्त के रूप में प्रशसित करना चाहे तो व्यर्थ। न तो खलिहानो की अन्नराशि ही उसे सुशोभित कर सकती है, और न पुष्पित पलाश ही। उसकी शोभा तो तभी होगी जब उदात्त स्वर से गधे रेकने लगेंगे।

आशा है गजल के हिन्दी भावानुवाद से काव्य मर्मज्ञ कवि के व्यग्य की ध्वनि को सहज ही हृदयंगम कर सकेगे। इसी से मिलती–जुलती 'विना' शीर्षक एक व्यग्य गजल की कुछ पक्तिया और देखे—

'कार्यालयेषु सन्तु नाम मित्र-बान्धवाः,
कार्यं न जायते पर सुविधा-कर बिना।
अधिकारि - गेहिनी-सखीगणोऽति विस्तृतः,
नैषा बहि प्रयाति किन्तु कुक्कुर बिना।
नैके सहायका भवन्तु मन्त्रिणो दले,
यात्रा न समारभ्यते वार्ताहरं बिना।'

अर्थात् किसी कार्यालय मे भले ही आपके अनेक परिचित मित्रगण क्यों न हो, यदि कार्य कराना हो तो सुविधा - शुल्क की व्यवस्था किये बिना वहा न जाइये। हमारे बड़े साहब की सहेलियो का समुदाय तो बहुत बडा है, किन्तु टहलने के समय बिना कुत्ते की ज़ंजीर थामे वे बाहर केवल किसी सहेली के साथ निकलना पसन्द नही करती। हमारे मंत्री जी की यात्रा के समय भले ही अनेक सुयोग्य सहयोगी क्यो न हो, बिना पत्रकार जी को लिये वे यात्रा प्रारम्भ ही नही करते।

सभवत. सहृदयो को उक्त व्यग्यो की व्याख्या की आवश्यकता ही नही है। इसी प्रकार एक स्थान पर कवि आज के युग की सिद्धि-प्रदायिनी चाटुकारिता देवी को प्रणाम करते हुये कहता है—

'चाटुकारिते देवी ! नमस्ते
योग्या अपि तव कलाऽनभिज्ञा सतत प्राप्नुवन्ति धिक्कारम्,
यो जानीते तव प्रयोग मन्दोऽप्येष शिरसि धार्यते।'

हे चापलूसी महारानी ! तुम्हे सादर प्रणाम। योग्य से योग्य व्यक्ति भी यदि तुम्हारी कला से अनभिज्ञ रह गया तो उसे सदैव धिक्कार का ही पात्र बनना पड़ता है। और तुम्हारी साधना मे कुशल कोई बेवकूफ ही क्यो न हो, वह सर्वत्र सिर-माथे बिठाया जावेगा। अत सफलता चाहने वालो ! इन देवी की साधना अवस्य करो।

अन्त मे कवि की 'वरम्' शीर्षक एक गजल के मात्र तीन चरण उद्धृत करके लेख समाप्त किया जावेगा। शब्द है—

'निजदेह - पोषणार्थमन्य-भक्षण वरम्
कार्यो विनाश एव, नास्ति रक्षण वरम्।
एकैव गीतिका सदा गेया मुहुर्मुहु
व्यर्था नवा क्रियाऽस्ति पिष्टपेषणं वरम्।
माता महीप गर्विता चेज्जायते वधूः
तस्याः प्रसादनाय पाद — वन्दनं वरम्।'

उक्त चरणों का शब्दार्थ है कि अपने शरीर को पुष्ट बनाने हेतु दूसरों का भक्षण सर्वथा उचित है। यदि कोई करने योग्य कार्य है, तो वह है विनाश। लोक रक्षण की बातें बकवास हैं। जो गीत बारम्बार सदैव गाया गया हो, उसी को दुहराते रहना ही उत्तम है। कोई नया कार्य करने की बात सोचना भी मूर्खता है। आज तो बस पिष्ट – पेषण ही श्रेयस्कर है। अगर बहू जी अहंकार से भरकर दादीजी की भांति नाराज हो जावें तो उनके प्रसन्न करने का सर्वोत्तम उपाय है, उनकी चरण–वन्दना।

उक्त शब्दों में चतुर सहृदय जन विभिन्न प्रकार की व्यंजनायें निकाल सकते हैं। संभव है, गजल के प्रथम चरण का लक्ष्य स्वार्थी एवं भ्रष्ट शासक-वर्ग हो। द्वितीय चरण में भी कुछ ऐसी ध्वनि निकाली जा सकती है कि 'कश्मीर भारत का अभिन्न अंग है' इसकी रट तो बार–बार लगाई जाती है, किन्तु उसे चरितार्थ करने की किसी ठोस कार्यवाही को व्यर्थ ही समझा जाता है। इसी भांति अन्तिम चरण में चर्चित 'बहूजी' पाकिस्तान भी हो सकता है। किसी सफल व्यंग्य – कवि की यही तो विशेषता होती है कि सुविज्ञ सहृदय - जन उसकी उक्तियों को विभिन्न प्रसंगों से जोड़कर विभिन्न अर्थ निकाल सकें, और उनमें जिन बुराइयों पर चोट की गई है, उनसे दूर हटने- हटाने की प्रेरणा प्राप्त कर सकें। संभवतः यह विशेषता शिवशरण जी में विद्यमान है।

इस भांति प्रस्तुत लेख में डा० शिवशरण शर्मा द्विवेदी की कुछ संस्कृत-व्यंग्य–रचनाओं की कुछ पंक्तियों के उदाहरणों में, संस्कृतज्ञों के साथ हिन्दी के पाठक भी उनकी व्यंग्य – रचना – क्षमता से परिचित हो सकेंगे, ऐसी आशा है। एक तो संस्कृत जैसी भाषा की रचना, दूसरे अत्याधुनिक छन्दों में, तीसरे हास्य – व्यंग्य जैसे विषय पर, ऐसे समय सफलता - पूर्वक कुछ लिखना, जबकि संस्कृत में अभी इस विधा का श्रीगणेश ही हुआ है, वस्तुतः कवि की रचना – प्रतिभा का परिचायक है।

वैष्णोई सम्प्रदाय के महत्व की विवेचना

डा० रोहतास कुमार
भैरवोखान, सीरसा
हरियाणा–१२५०५५

वैष्णोई सम्प्रदाय की विशेषता उनके इस मत में प्रकट होती है कि ईश्वर को गृहस्थ में रहकर ही ज्ञान द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। इसी तरह के मत को साधारण सांसारिक लोगों के लिए एक वरदान कहे, तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। कबीर कहते हैं कि भगवान मनुष्य मे उसी तरह समाया हुआ है जैसे मृग की नाभि में कस्तूरी, परन्तु मृग उसे जंगलों में खोजता फिरता है। मनुष्य के अन्दर ही भगवान है। परन्तु ज्ञान न होने के कारण वह इधर-उधर भटकता रहता है। यह अज्ञान केवल गुरू के द्वारा ही दूर हो सकता है।[1] ईश्वर प्राप्ति का मार्ग सदाचारपूर्ण जीवन, गुरू मे अखण्ड विश्वास और आत्मसमर्पण है।[2] इन साधनो के अनुसार जीवन व्यतीत करने के लिये घर–बाहर छोड़ना, अपने कर्तव्यों से भागना या किसी तरह के कर्मकाण्ड को करना आवश्यक नही। व्यक्ति परिवार में रहता हुआ भी गुरू द्वारा बताये गये आदर्श पर चलकर परम तत्व को प्राप्त कर सकता है। अब प्रश्न उठता है कि वैदिक काल में ऋषि लोग घोर तपस्या आदि करते थे और उन्हें भी तो तत्व ज्ञान हो जाता था। यह कैसे ? इसका उत्तर यह है कि वे कर्मकाण्ड को महत्व नहीं देते थे, बल्कि ज्ञान और आत्मसमर्पण से भी पहले वर्णाश्रम व्यवस्था का पालन करते थे और बाद में ब्रह्म प्राप्ति की जिज्ञासा करते थे। अतः वैदिक ऋषि जीवन से पलायन नही करते थे बल्कि अपने जीवन भर के अनुभवों को वानप्रस्थ और संन्यास काल में लोगो के सामने रखते थे, ताकि समाज में नैतिकता बनी रहे और सन्तुलन भी। जाम्भो जी ने इसमें समयानुसार कुछ संशोधन करके बताया कि विष्णु प्राप्ति के लिये शरीर आदि को तपाने की जरूरत नही, न नाथो की तरह हठ–योग करने, अथवा माला फेरने या यज्ञादि करने की जरूरत है बल्कि सहज उपासना द्वारा ऐसा मार्ग अपनाया जाना चाहिए जिसे सभी गृहस्थ सहर्ष स्वीकार कर सकें।

१ — लेखा एक निरजन जैसी, जहाँ चीन्हो तहा पायो।
शब्द वाणी जम्भ सागर, १६/२

२— सतगुरू मिलियो सतपंथ बतायो, भ्रान्त चुकाई। वही, २६/५ १०७/२
ऊं गुरू हीरा बिणजे लेहम, गुरू ने दोष दैणा। वही, ५३

नाम जाप द्वारा सहज उपासना का पालन करते हुए विष्णु की कृपा प्राप्त की जा सकती है। ध्यान पूर्वक विचार करने पर ज्ञात होता है कि जाम्भो जी के मत का सामाजिक मूल्य है। वस्तुत जाम्भो जी किसी विशेष धर्म या सम्प्रदाय विशेष के पोषक नही थे। उनकी भावना 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की थी। उनके लिये सभी धर्म समान थे। उन्होने सभी धर्मों के लोगो को समान दृष्टि से देखा तथा उन्हे स्वीकार किया। अत हम उन्हे धर्म निरपेक्ष की संज्ञा भी दे सकते हैं। जाम्भो जी की वाणी का गहराई से अध्ययन करने पर पता चलता है कि उन्होने अपनी वाणी को अन्य सन्तो की तरह नही गाया बल्कि जिस किसी ने जैसा प्रश्न उठाया उसे उसी प्रकार का देश-काल-परिस्थिति के अनुसार उत्तर दिया। यही उनकी वाणी की महानता है। मानवता का उपदेश देते हुए उन्होने कहा कि जहा कही भी अन्याय हो, चाहे चेतन प्राणी पर हो या जड़ पर उसका विरोध करते वक्त जीवनदान भी देना पड़ तो दे देना चाहिये। इसी से प्रेरित होकर लोगो ने राजा द्वारा खेजड़ी वृक्ष कटवाने का विरोध किया और शहीद हो गये। इस विरोध के कारण राजा को वृक्ष काटने पर रोक लगानी पडी। वर्तमान युग म जाम्भो जी द्वारा प्रदान किये गये वचनामृत को यदि हम ग्रहण न कर और मानवता तथा नैतिकता को गत मे डाल तो इसमे उनका कोई दोष नही। वर्तमान समय मे जाम्भो जी की वाणी को पुन समझने की आवश्यकता है ताकि हमारी गिरती हुई नैतिकता को उनकी वाणी द्वारा पुन एक सहारा प्राप्त हो सके और हम सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक और राजनीतिक क्षत्रो मे मानवता की स्थापना कर सकें।

बिश्नोई सम्प्रदाय की शिक्षा ऊच-नीच, जाति-पाति आदि के भेदभावो से मुक्त थी। जाम्भो जी ने बताया कि विष्णु की भक्ति मे किसी जाति या वर्ण विशेष का होने की आवश्यकता नही। विष्णु भक्ति मे सभी एक हैं। जो व्यक्ति

१— विस्तार से देख — शब्दवाणी जम्भसागर मे हिन्दू, मुसलमान तथा नाथयोगियो के प्रसङ्ग

२— ॐ विष्णु विष्णु भण रे प्राणी, ऐके लाख उपाज।

३— रतन काया बैकुंठे बासो, तेरा जरा मरण भय भाज ॥ वही ११६
ॐ विष्णु विष्णु भण अजर जरीले, धम हुवे पापा छुटीज ।वही १०२

इस भू–लोक मे रहता हुआ ब्रह्म–ज्ञान प्राप्त कर लेता है वही ब्राह्मण है। इस मध्यकाल मे फैले पाखण्डो और ब्राह्मणों द्वारा सताई गई जनता इस तरह की उदार-वादी मत के फलस्वरुप वैष्णोई–सम्प्रदाय की तरफ आकृष्ट होने लगी। इसका सबसे बड़ा फायदा यह हुआ कि निम्न वर्ग के जो लोग हिन्दुओ द्वारा तिरस्कृत होकर बड़ी संख्या में मुसलमान बनते जा रहे थे, वे जाम्भो जी की वाणी से अपनी वास्तविकता को पहचानने लगे और अपनी मौलिक स्थिति मे रहने की सोचने लगे। इस प्रकार हिन्दू धर्म सजीव और सगठित बना रहा।. मध्यकालीन समाज मे यह एक गहुत बड़ी समस्या सामने आयी कि वर्णव्यवस्था का नामोनिशान न रहा। सारा समाज जातिवाद में फंस गया। जो व्यक्ति अपनी जाति मे आचरण–भ्रष्ट हो जाता था उसे उसी समय उस जाति से तिरस्कृत वह व्यक्ति अपनी अलग जाति बना लेता था। इस कारण जातिया - उपजातियाँ बनती जा रही थी। उच्च वर्ण के लोग उनसे घृणा भी करने लगते थे। दूसरी तरफ, मुस्लिम समाज ने उन जातियो को अपने धर्म में समाने की पूरी छूट दे रखी थी।

ऐसी स्थिति में हिन्दू सस्कृति की रक्षा का एक यही मार्ग था कि वेद उपनिषदो स्मृतियो तथा पुराणों का पुनरावलोकन करके क्षेत्रीय भाषा मे लोगो के समक्ष अपनी हिन्दू परम्परा को सारे भेदभाव भुलाकर प्रस्तुत किया जाए। मध्यकालीन सन्तो जैसे कबीर, दादू, गुरुनानक आदि ने यही किया। उन्हीं की तरह जाम्भो जी ने भी अपनी वाणी को मरू भाषा मे प्रस्तुत किया। उनकी वाणी का चिन्तन करने पर यह स्पष्ट होता है कि उन्होने उपनिषदो का सार प्रस्तुत किया है। उन्होने धार्मिक विचारो से ऊच–नीच के भेद-भाव को मिटाने की कोशिश की। ऐसा जाम्भो जी के प्रयास के फलस्वरूप केवल राजस्थान मे ही नही हुआ बल्कि सारे भारत मे सन्त–मत के विकास के मूल मे जाति - भेद उच्छेद का बहुत बड़ा हाथ था। जाति–भेद के निराकरण के लिए सन्तो के पास अनेक प्रकार के तर्क थे। जब चारो वर्णो के लोगो को भगवान ने स्वयं उत्पन्न किया है, और सब की उत्पत्ति में समानता अपनाई है तो किसी को भी क्या अधिकार है कि वह निम्न वर्ण के लोगो को भेदभाव की दृष्टि से देखें। जब सभी व्यक्ति पंच/तत्व से मिलकर बने है तो उनमे भेद नही होना चाहिये। यह ठीक है कि किसी का जन्म उच्च कुल या नीच कुल में होना

पूर्व संचित कर्मों के कारण होता है।[1] लेकिन जिस तरह हम अपने घर मे कर्मफल को भोगते हुये किसी रोगी का तिरस्कार नही करते, वैसे ही हमें कर्मफल के फलस्वरूप किसी निम्न वर्ण या घराने मे जन्म लेने वाले मानव के तिरस्कार का भी कोई अधिकार नही। अगर हो सके तो कर्मों के जाल मे फँसे मानव को उद्धारकारी गुरू से मिलाया जाये, ताकि वह उनके द्वारा बताये गये रास्ते पर चलता हुआ मुक्ति प्राप्त कर सके। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि गुरू जम्भेश्वर जी ने आध्यात्मिकता और समाज - सुधार का सामजस्य स्थापित करके मानव जाति के अस्तित्व को बचाने का महान् कार्य किया।

गुरु जम्भेश्वर जी ने नामोपासना का बडा महत्व बताया है। विष्णु (ब्रह्म) के नामजाप से मुक्ति को साध्य मानते हुये कहा है कि जो व्यक्ति शुद्ध हृदय से विष्णु का जाप करते है, वे महान विभूति (ब्रह्म) की तरफ आकर्षित होते है और उनकी लाज रखने के लिये या सहायतार्थ भगवान उनकी तरफ दौड पड़ते हैं।[2] इस तरह जीव और ईश्वर का स्वाभाविक रुप में मिलन सम्भव है। यही मुक्ति है। आगे कहते है कि लोग व्यर्थ ही अपने मन की शुद्धि के लिए जगलो, मन्दिरो, मस्जिदों और अन्य पाखण्डो में फसते है और अपने अमूल्य जीवन को नष्ट करते हैं। लेकिन उस समय तक मनुष्य की आत्मा शुद्ध नही होगी जब तक वह गुरु-प्रदत्त नामाभ्यास नही करता उसकी वही स्थिति होती है जैसे समुद्र में पक्षी घूम-घूम कर उसी जहाज पर आ बैठता है अर्थात् व्यक्ति अपनी आत्मशुद्धि के लिये व्यर्थ मे इधर-उधर भटकता है[3], परन्तु अन्त में गुरु की शरण से ही उसका उद्धार होता है। इसलिये गुरु जम्भेश्वर जी ने बार-बार सांसारिक जीवों को चेतावनी देते हुए कहा है कि यदि आप मुक्ति चाहते है तो विष्णु के नाम का जप करें (शब्द ११६) उसी मे रमते हुए इस नश्वर संसार से पार उतरा जा सकता है और विष्णु ही प्राणदाता है। आगे कहते है कि

१— विस्तार से देखे— वही, रानी झाली का प्रसग। शब्द, ११०/२

२— वही, जाम्भो जी द्वारा वर्णित दस अवतार वर्णन और तैंतीस करोड़ लोगों का उद्धार।

३. जा जा जोव न जोती, ता ता मोख न मुक्ति, वही ५८/१०

मानव शरीर मे पवित्रात्मा का वास है और वही ब्रह्म है[1] अर्थात् उसमे ब्रह्म नाम की स ता विद्यमान रहती है। विष्णु का नाम जपने से सभी दु खो और रोगो आदि का अन्त हो जाता है तथा आ मा पर सचित् कर्मों का आवरण हट जाता है। इस प्रकार आ मा देदीप्यमान होती हुई ब्रह्म के साथ एकता प्राप्त कर लेती है। यही वह शक्ति है जिससे सभी दुगु णो का नाश होता है तथा जीव निर्वाण–पद को प्राप्त करता है। अत नाम–जाप ही सर्वोपरि है। तीथ आदि पाखण्ड व्यथ है। गुरु जम्भेश्वर जी ने विष्णु को सत्य शिव सुन्दर मानते हुए कहा है कि वही एक मात्र सत्य है सभी दु ख रोग भोग, अनुभूतियो से परे हैं, वही उत्थान हैं, वही पतन है, उसे किसी सीमा मे नहीं बाधा जा सकता, वही सबका कल्याण करने वाला है भक्त को अमरता का वरदान देते हुये अपने समान बनाता है विष्णु नाम जाप ही ससार से पार ले जाने की शक्ति रखता है। नाम कभी भी देखने की वस्तु नहीं बल्कि यह तो अन्त करण द्वारा अनुभव की चीज है। जिसने भी इस नाम–जाप का रसपान किया है वही इसका मूल्य जान पाता है अन्य कोई नही। अब प्रश्न उठता है कि अज्ञान मे पड जीव को सत्य का ज्ञान कौन करायेगा ?

जाम्भो जी कहते हैं कि गुरू ही वह खिवैया है जो माया का आवरण हटा कर जीव को ब्रह्म का ज्ञान करा सकता है अ य कोई नही। गुरू ही ईश्वर का मानवीय रूप है जो जीवों को चेतना और जागृति देने के लिये स्वय ब्रह्म ने नियुक्त किया है। अतएव जाम्भो जी कहते हैं कि मैं इस नश्वर ससार[3] मे जीवो को उनकी वास्तविकता का ज्ञान कराने के लिए ही आया हू। डकेन ग्रीनलेस (गास्पल आफ गुरू ग्रथ साहिब) मे लिखते हैं कि ईश्वर प्राप्ति का कोई सुगम और छोटा माग नही है ईश्वर की उपलब्धि उसी के द्वारा नियत साधनो से ही सभव है। अत जीव

१ मैंवर्न भवन म्हे एकी एका जीती, चुन चुन लिया रतना मोती। वही ६ ऊ शब्द सो ह आप, अ तर जपं अजप्पा जाप।

वही साधू गुरु दीक्षा मन्त्र

२ न मेरे मायन, ना मेरे बाप, मैं अपनी काया आप सवारी। जुग छतीसों शु यहिबरत्या सतजुग माही सिरजी सारी। वही, ८३/१

३— जो चित होता सो नाही भल खोटा ससारू। किसकी मोह किसका भाई, किसका पत्र पसारू। वही ३३/२

अपने सुकर्मों के फलस्वरूप किसी सन्त या गुरू की संगति से ही वास्तविकता पहचान सकता है। भक्ति ही एक ऐसी स्वर्णमयी वस्तु है जो किसी महात्मा या गुरू के प्रथम मिलन मे ही हृदय मे अकुरित होती है और धीरे-धीरे प्रचण्ड आग की तरह बढती हुई मन की मलिनता को भस्म करती हुई आत्मा को स्वर्णमयी बना देती है। शुद्ध मन मे ब्रह्म का पहले से ही निवास है। सच तो यह है कि जहां सच्चा गुरू है वहा ईश्वर का पहले ही निवास है। सन्त और ईश्वर का योग इतना निकट का है कि यह नही कहा जा सकता कि कौनसी शक्ति कार्यरत है, वे दोनो पृथक्-पृथक् है या मात्र एक ही है।[1] गुरू जम्भेश्वर ने भी तो यही दर्शाया है कि गुरू ही परमात्मा का रूप है। यदि संसार मे किसी ने ईश्वर पाया है तो वह गुरू की कृपा से ही, अन्यथा नही।[2] गुरू के शब्दों में परमानन्द की गूंज निहित है। उसी की सेवा से जीव परलोक का सुख अनुभव कर सकता है। अतः गुरू की कभी भी निन्दा नही करनी चाहिये।[3] इस प्रकार उनका कहना है कि इस संसार मे असंख्य शास्त्र है जो मोक्ष का रास्ता बताते है परन्तु वे कभी भी अविद्या का आवरण नही हटा सकते,[4] बल्कि गुरू ही उनका तत्व जान कर मुक्ति दिला सकता है। इससे यही स्पष्ट होता है कि गुरू जम्भेश्वर जी ने गुरू को सर्वोच्च स्थान दिया है। क्योंकि गुरू ही एक मात्र मुक्तिदाता है, अन्य साधन नहीं।

गुरू जम्भेश्वर की वाणी की यह भी विशेषता रही है कि इस संसार में जो भी कार्य हो रहे हैं वे सभी ईश्वर (विष्णु) की कृपा पर ही आश्रित हैं। उसकी इच्छा के बिना कोई पत्ता तक भी नहीं हिल सकता अर्थात् विष्णु इच्छा ही सर्वोपरि है,[5] यही उनका उपदेश था। गीता के अनुसार बताते हुए वे कहते हैं कि व्यक्ति अपने जीवन

१— डकेन ग्रीन लैस— गॉस्पाल आफ गुरू ग्रथ साहित्य, ६१

२— सतगुरू मिलियो सतपथ बतायो, भ्रान्त चुकाई सुगरा भयो विश्वासू।
शब्दवाणी जम्भ सागर, वही, १०७/२

३— ॐ अके पंथ का भांजणा, गुरू का नोदणा, स्वामी का दुसमणा।
कुफरे ते काफरा, कुपत्ती कुपातूं कुचीला कुपातूं। वही, ११२

४— ॐ पढ़ कागल वेदूं शास्त्र शब्दूं, पढ सुण रहिया कछु न लहिया। वही, २७/७

५— ब्रह्मा इन्द्र सकल जग थरप्या दीन्ही करामाल केली बारी। वही ६८/२
ॐ शब्द गुरुदेव निरजन, ता इच्छा से भये अंजन॥ वही, बालक मन्त्र

को सफल बनाने हेतु गुरू की कृपा से सद्गुणों का विकास करत है, यही जीव का कर्म है परन्तु उसे फल की इच्छा नहीं करनी चाहिये। जीव के सुख दुख, भोग रोग, हर्ष विलास आदि उसी पर ही निर्भर करते हैं। इससे यही स्पष्ट होता है कि गुरू प्रदत्त नाम-जाप का आश्रय लेकर ईश्वरेच्छा को शिरोधार्य समझ कर आगे बढने की कोशिश करनी चाहिये। इस प्रकार प्रकाश स्वयं फैलता जायेगा, माया रूपी अज्ञान अपने आप हट जायेगा।[1] परम तत्व के बारे में बताते हुए जाम्भो जी कहते है कि वही (विष्णु) सत्यं ज्ञानं अनन्त है अर्थात् वही सत्य है वही ज्ञान-स्वरूप है तथा उसका न कोई आदि है और न अन्त है।[2] वह स्रष्टा होने के साथ-साथ जीव से भी सम्बन्धित है। आचार्य परशुराम चतुर्वेदी लिखते है कि 'इस संसार मे जो वस्तु है या क्रियाये है एक ही में सम्मिलित है तथा ओतप्रोत हैं और कोई भी अंश किसी भी रूप मे उस एक मात्र सत्य ब्रह्म से अलग नही है।'[3] जाम्भो जी कहते है कि हुक्म देने वाला तथा जिसे हुक्म दिया जा रहा है वे सब एक हीहैं अर्थात् भिन्न नही हैं। इसका अर्थ यह है कि गुरू जम्भेश्वर सर्वात्मवाद पर जोर देते हैं। इस सर्वात्मवाद के द्वारा व्यक्ति मे अहम् भाव समाप्त हो जाता है, जो समाज दर्शन का एक नैतिक आधार है। इस सर्वात्मवाद को मानवतावाद कहे तो अनुचित नही होगा, क्योंकि मानवतावाद का स्वरूप मनुष्य की निःस्वार्थ भलाई मे ही निहित है। इसकी सर्वात्मवाद से संगति बैठती है। दर्शनशास्त्र के एक क्षेत्र नीतिदर्शन ने इस सिद्धान्त को अपनाया है। सर्वात्मवाद का मुख्य लक्ष्य

---

१. बुरो जुंणी चवरासी भुंविसी, भलो आवा गुवणि वणि न आवो ॥वही, ४०/१

२. अल्हाह अलेख अडाल अजोनी स्वयंभ जिहि का किसा विनाणो। वही, ६/२
विस्तार से देखें, शब्द ४/१-१२, १४, १६, ८३/३, १०१/३, ८४/१, १०५, ११५/१ एवं

मोरी आद न जाणत, महीयल धूवां बखाणत उरध ले ढाक तमूल।
आद आद तो हम रचिलो, हमें सरजिलो कौंण ॥ २/३-४

३. आचार्य परसु राम चतुर्वेदी—उत्तरी भारत की सन्त परम्परा, पृ० ३४४

मनुष्य की भौतिक, आर्थिक, सामाजिक उन्नति के साथ - साथ उसकी आध्यात्मिक उन्नति भी है, जिससे कि समाज में छल, कपट, दम्भ का अन्त हो जायेगा और शान्ति तथा सुरक्षा का राज्य स्थापित होगा। मानवतावाद का पोषण मानव के सांस्कृतिक उत्थान, चारित्रिक मूल्यों के विकास, कुरीतियों से ग्रस्त समाज के कष्टों तथा बेईमानी के निराकरण और जीवन में आनन्द तथा अन्त में मोक्ष रूपी आदर्श के द्वारा ही होता है।

यह मानवतावाद समाज में उस समय तक लागू नहीं होगा जब तक समाज में फैली बुराईयों का समूल नाश नहीं होता है। जाम्भो जी ने अपनी वाणी में यही दर्शाया है कि जब तक व्यक्ति में मानवता की भावना नहीं उत्पन्न होगी और समाज में फैली बुराईयां दूर नहीं होगी, तब तक मानव समाज का कल्याण तो क्या अपना भी कल्याण नहीं कर पायेगा (२९ नियम)। जाम्भो जी ने 'मनुष्य के लिए' का सिद्धान्त अपनाते हुए पूर्ण आस्तिकता और सात्विकता के आधार पर समाज में व्याप्त बुराईयों को दूर करने की कोशिश की अन्त में यह कहा जा सकता है कि मानवतावाद, आस्तिकता एवं सर्वात्मवाद के आधार पर मानव की सर्वतोमुखी उन्नति को प्रशस्त किया।

कालिदास के नाटकों में वर्णाश्रम व्यवस्था

अनीता सक्सैना ५६०, चित्रगुप्त कालोनी
कासगंज (एटा) पिन : २०७१२३

कालिदास का स्थितिकाल (ई० पू० प्रथम शताब्दी) बौद्ध धर्म के ह्रास और वैदिक धर्मोत्थान का युग था। वैदिक धर्म दर्शन के अनुसार व्यवस्थित वर्णाश्रम धर्म में उनकी गहन अवस्था थी। यद्यपि कालिदास के समय तक वैदिक धर्म पौराणिक रूप में परिवर्तित होने के साथ - साथ शैव और वैष्णव सम्प्रदाय मे विभक्त हो गया था। तत्कालीन जनता शिव के साथ - साथ विष्णु की उपासक होने के कारण राम और कृष्ण को विष्णु की अवतारों के रूप मे स्वीकृत कर चुकी थी।

जहा तक कालिदास के काल मे प्रचलित वर्णाश्रम व्यवस्था का प्रश्न है वह वैदिक वर्णाश्रम व्यवस्था के अनुरुप थी। उस पर रामायण महाभारत कालीन व्यवस्था की भी स्पष्ट छाप परिलक्षित होती है।

वर्ण शब्द की व्युत्पत्ति 'वृ' धातु से हुई जिसका अर्थ है 'वरण करना या चुनना'। इससे यह व्याख्यायित है कि जो व्यक्ति जैसी शारीरिक एवं बौद्धिक क्षमता रखता है वह उसी वर्ण को माना जाता था। जैसे यदि कोई ब्राह्मण देश रक्षा आदि क्षत्रियोचित कार्यों को करता था तो वह ब्राह्मण न होकर क्षत्रिय वर्ण का माना जाता था, इसी प्रकार यदि कोई वैश्य अपने वर्णागत कार्य को छोड़कर सेवा आदि का कार्य करता था तो वह शूद्र कहलाता था। यही वर्ण व्यवस्था के परिवर्तन का स्वरुप मनुस्मृति मे स्पष्ट रूप से मिलता है—

'शूद्रोब्राह्मणतामेति, ब्राह्मणश्चैव शूद्रताम्
क्षत्रियाज्जात मेवन्तु विद्या दैश्यात्तथैव च'[1]।

वैदिक काल में चारों वर्णों की उत्पत्ति विराट् पुरुष के क्रमशः मुख, बाहुओं, जंघाओं, एवं पैरो से होने का प्रमाण मिलता है—

'ब्राह्मणो स्य मुखमासीत् बाहूराजन्यः कृतः।
ऊरुतदस्य यद् वैश्यः पदभ्या शूद्रोऽजायत ॥[2]

१— मनुस्मृति अध्याय १०/६५
२— ऋग्वेद – पुरुषसूक्त–मन्त्र १२

प्राचीन काल मे वर्ण व्यवस्था सामाजिक सरचना की उदात्त परिकल्पना थी क्योकि वर्ण व्यवस्था का आधार चार कर्मो पर था—

ज्ञानात्मक कर्म
शक्ति प्रधान कर्म
धनार्जनात्मक कर्म
श्रमात्मक कर्म

इन्हीं कर्मो पर हमारा समाज चार वर्गो में विभक्त हो गया जिसमें अध्ययन और धार्मिक अनुष्ठान यज्ञ आदि में रुचि रखने वाले ब्राह्मण, युद्ध शासन रक्षा आदि में सामर्थ्यवान क्षत्रिय, व्यावसायिक और कर्म आदि में रुचि रखने वाले वैश्य सेवा व दास भाव रखने वाले शूद्र कहे गये।

कतिपय ऋषि मुनियों एवं स्वयं भगवान श्रीकृष्ण ने कर्म के आधार पर वर्ण व्यवस्था का स्पष्टोल्लेख किया—

'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुण कर्म विभागशः
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्य कर्तारमव्ययम्'[1]

कुछ विचारकों के आधार पर वर्ण व्यवस्था का उद्गम वर्ण माना गया उन्होंने लिखा आर्य और वर्ण (रंग) के होने के कारण उत्तम तथा अनार्य श्याम वर्ण के होने से निम्न कहे जाते थे। ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य गौर वर्ण के तथा श्याम वर्ण के शूद्र थे।

किन्तु इन विचारों का न तो समर्थन हुआ, न ही स्पष्ट प्रमाण मिले क्योकि यदि वर्ण व्यवस्था का आधार वर्ण (रंग) माना जाता तो विष्णु और उसके चतुर्दश अवतार जो कि आराध्य थे, श्याम वर्ण होने के कारण शूद्र माने जाते। इन सब धारणाओं के फलस्वरूप महाभारत के शान्ति पर्व में आर्यों के समान ही अनार्यों को भी चार वर्णों में विभक्त किया गया थे सारी व्यवस्था समयानुसार स्पष्टीकरण प्राप्त न होने से लुप्त हो गई।

१— श्रीमद् भगवद्गीता अध्याय ४/१३

महाभारत के अनुसार ब्रह्मा ने वर्णों का निर्माण क्रम विशेषता के आधार पर किया—

'न विशेषोऽस्ति वर्णानां, सर्व ब्रह्ममिदं जगत्
ब्रह्मणा पूर्व सृष्टं हि कर्मभिवर्णतां गतम् ।

अर्थात् कोई भी वर्ण विशेष नहीं है, सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म है। सृष्टि की संरचना के अनुसार कर्मों के अनुरुप ब्राह्मण सर्वप्रथम हुए ।

आपस्तम्ब धर्म सूत्र के अनुसार–

'धर्मचर्यया जघन्योंवर्ण, पूर्व वर्णमापद्यते जात्ति परिवृत्तौ
अधर्मचर्यया पूर्वोवर्ण जघन्य, जघन्य वर्णमापद्यते परिवृत्तौ'[1]

अर्थात् वर्ण व्यवस्था का आधार जन्म न मानकर कर्म माना गया इसलिए शूद्रकुल में जन्म लेकर भी बालक अध्ययन अध्यापन आदि धार्मिक अनुष्ठानों में यदि प्रवृत्त होता तो ब्राह्मण कहलाता और ब्राह्मण बालक अपने कुल कर्म का परित्याग करके यदि निम्न कार्यों में रूचि रखता तो शूद्र हो जाता था ।

अन्ततः यही निष्कर्ष निकलता है कि प्राचीन कालीन वर्ण व्यवस्था अभिशापित न थी। कालान्तर में कर्म व गुणों का परित्याग जैसे - जैसे होता गया, जन्म के आधार पर वर्ण व्यवस्था विकसित होती गयी, तब उसमे दोषपूर्ण प्रवृतियां जन्म लेने लगी ।

जाति प्रथा का मूल कारण भी वर्ण व्यवस्था ही रही जो समयानुसार परिस्थितियों में ढलकर भिन्न - भिन्न जाति व उपजातियों मे विभक्त होती गयी और वही कालिदास के नाटकों में वर्ण व्यवस्था का आधार बनी ।

ई० पू० प्रथम शती (अर्थात् कालिदास के काल) में वर्ण व्यवस्था जाति पर आश्रित थी क्योंकि एक ही मत में विभिन्न विचारधारा, मान्यता तथा कार्य प्रवृत्तियों का चलन होने से अनेक उपजातियां विकसित होती गयी। ब्राह्मण वर्ग में भी चार वेदों का अध्ययन करने वाले चतुर्वेदी और तीन या दो वेदों का अध्ययन करने वाले

१— आप स्तम्ब धर्मसूत्र एकादशी कण्डिका पृ० स० १४२/१०-११

क्रमशः त्रिवेदी या त्रिपाठी और द्विवेदी कहलाने लगे। कर्म और व्यवसाय के अनुसार ही क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र में भी अनेक उपजातियां बन गयी।

कालिदास के तीनों नाटक इस परिकल्पित वर्ण व्यवस्था पर लिखे गये। परन्तु इस रूप में उनकी सर्वश्रेष्ठ और ख्याति प्राप्त कृति अभिज्ञान शाकुन्तलम् ही मानी गयी। उसमे वर्णित वर्ण व्यवस्था अति उत्कृष्ट और कर्म पर आधारित है। क्योंकि उस समय भी समाज ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र चार वर्णों में ही विभाजित था। तत्कालीन समाज सुख सम्पन्न और समृद्धिशाली होने के कारण अपने कुलागत कर्म को करने मे ही गौरवान्वित होता था।

ब्राह्मण ऋषि मुनि आदि का वर्ग अध्ययन अध्यापन यज्ञ अनुष्ठान आदि धार्मिक कृत्यो को करता था। अभिज्ञान शाकुन्तल मे कण्व, मारीच आदि ऋषियों के आश्रम में धार्मिक अनुष्ठान शान्ति पूर्वक ढंग से सम्पन्न किये जाते हैं यद्यपि कालिदास के काल में मूर्ति पूजा का प्रचलन था परन्तु उन्होंने इसका उल्लेख अपने नाटकों में कहीं नहीं किया। मूर्ति पूजा के साथ - साथ पशु बलि का भी विधान था जो हमे अभिज्ञान शाकुन्तल के षष्ठांङ्क में प्राप्त होता है—

'पशु मारण कर्म दारूणोऽनुकम्पा मृदुरेव क्षोत्रिय'[1]

यद्यपि यज्ञ अनुष्ठान मे पशु बलि का विधान नही था फिर भी बौद्धिक तर्कों के अनुसार 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' का उल्लेख किया गया और वर्ण व्यवस्था का अनुमोदन करते हुए कुछ टीकाकारो ने लिखा अग्निष्टोमीय पशुमालभेत्'[2] श्रुति को प्रमाण मान भी ले तो इसका अर्थ हनन न होकर संरक्षण या पालन करना था क्योंकि पशुबलि तो मांसाहारी वाममार्गियो की देन होने से त्याज्य थी। कालिदास के कथनानुसार पशु हत्या करने वाला ब्राह्मण घृणित या मासाहारी नही है वह स्वभाव से तो मृदु ही रहता है। कालिदास का यह कथन उपेक्षणीय तो हो सकता है पर उसे निन्दनीय नही कह सकते।

१— अभिज्ञान शाकुन्तलम् – षष्ठोऽङ्क : पृष्ठ संख्या १४८/१
२— अभिज्ञान शाकुन्तुलम् – षष्टोङ्क : टिप्पणी पृष्ठ सख्या १५०

मालविकाग्निमित्रम् में वर्णित कुछ प्रसंगों के द्वारा ज्ञात होता है कि उस काल में ब्राह्मण वर्ग को पूजनीय माना जाता था। एक स्थल पर राजा अपने मित्र विदूषक के प्रति नतमस्तक है क्योंकि विदूषक भविष्यवक्ता ब्राह्मण है यथा—

'मूर्ध्ना प्रतिग्रहीतं वचः सिद्धिदर्शिनो ब्राह्मणस्य'[1]

अर्थात् मनचाहा भविष्य बताने वाले ब्राह्मण का आशीर्वाद सिर माथे पर।

अभिज्ञान शाकुन्तल के भरत वाक्य में क्षत्रिय वर्ग का स्पष्टीकरण करते हुए राजा के कर्तव्यों के बारे में कालिदास ने लिखा—

'प्रवर्ततां प्रकृतिहिताय पार्थिवः'[2] अर्थात् राजा (क्षत्रिय) को प्रजाजनों के कल्याण के लिए तत्पर रहना चाहिए तथा शास्त्र श्रवण से ज्ञान वरिष्ठ कवि जनों की वाणी का पूर्ण सत्कार करना चाहिए। इस प्रकार राजन्य वर्ग का कार्य देश रक्षा व प्रजा पालन निश्चित हुआ। राजा दुष्यन्त से दुष्टों को सदा भय रहता था इसलिए उसके राज्य में कोई भी व्यक्ति अपने वर्णाश्रम धर्म का परित्याग कर स्वेच्छाचारी कुपथगामी होने का दुस्साहस कभी नहीं कर सकता था—

'न कश्चिद् वर्णानाम् पथमपकृष्टोऽपिभजते'[3]
राजन्य वर्ग मुख्यतः क्षत्रिय ही होता था।
विक्रमोर्वशीयम् के भरत वाक्यानुसार—
'सर्वस्तरतु दुर्गाणि सर्वो भद्राणि पश्यतु
सर्वः कामान वाप्नोतु सर्वः सर्वत्र नन्दतु'[4]

अर्थात् मेरे देश के सभी विद्वानों के यहां धन सम्पत्ति और प्रसन्नता रहे साथ ही राजा लोग विद्यावान् हों ताकि वे विद्वानों का समुचित आदर कर सकें, विद्वानों व धनवानों में अपेक्षित सहयोग होने पर ही देश व समाज की उन्नति सम्भव है।

विक्रमोर्वशीयम् के एक अन्य प्रसंग के अनुसार राजा सूर्यदेव की आराधना करते थे।

१— मालविकाग्निमित्रम् – तृतीयऽङ्कः : पृष्ठ संख्या ३००
२— अभिज्ञान शाकुन्तलम् पञ्चमोऽङ्कः पृ० संख्या ६४/१०
३— विक्रमोर्वशीयम् – पञ्चमोऽङ्कः पृ० संख्या २७५/२५

सूर्याराधना से व्यक्ति के बल व तेज में वृद्धि होती है।

मालविकाग्निमित्रम् में राजा के रूप व गुण की प्रशंसा इस प्रकार की गयी है—

'द्वारे नियुक्त पुरुषाभिमत प्रवेश. सिंहासनान्तिक चरेण
सहोसर्पसयम् तेजोभिरस्य विनिवर्तितदृष्टि पर्तिर्वाक्याहते'[1]

अर्थात् पुरुष के रूप मे राजा (अर्थात् क्षत्रिय) का तेज सचमुच अत्यन्त प्रभावशाली है।

वैश्य वर्ग का मुख्य व्यवसाय व्यापार था। जो व्यापार मे धनी होते थे वे श्रेष्ठी कहलाते थे। व्यापार का मुख्य केन्द्र समुद्र था जिसमें नावो के माध्यम से व्यापार किया जाता था।

मालविकाग्निमित्रम् में गणदास के अन्तर्गत वैश्य वर्ग का संकेत प्राप्त होता है यथा—

'स ज्ञान पण्य वणिज वदन्ति'[2]

शूद्र वर्ग सेवा और दास कर्म को ही अपना जन्मजात कर्म मानता था। समृद्धिशाली होने पर भी सदोष और निन्दनीय होकर भी शूद्र अपने वर्णागत नियमों का पालन करने मे अपना गौरव मानता था जैसे अभिज्ञान शाकुन्तल का धीवर अपने कुल कुकर्म को हेय न मानकर श्रेष्ठ मानता है—

'सहज किल यद् विनिन्दितं, न खलु तत्कर्म विवर्णनीयम्'[3]
विक्रमोर्वशीयम् के राजा के कथन—

'वेधक वेधक'[4] से ज्ञात होता है कि उस समय निम्न वर्ण के लोग थे।

विक्रमोर्वशीयम् मे अनेक स्थलो पर कालिदास ने अपने प्रत्येक पात्र को वर्णों की मर्यादा के अनुसार कार्य करता दिखलाया है।

१— मालविकाग्निमित्रम् प्रथमोऽङ्क पृ० संख्या २६१/१२
२— मालविकाग्निमित्रम् प्रथमोऽङ्क २७६/१७
३— अभिज्ञानशाकुन्तलम् षष्ठोऽङ्क १४८/१
४— विक्रमोर्वशीयम् पञ्चोऽङ्क पृ० संख्या २३३/१

इस प्रकार कालिदास ने वर्ण व्यवस्था का स्थापन अपने नाटकों में कर्म के आधार पर ही किया। प्राचीन काल में वर्ण व्यवस्था समाज के कार्यों का सुचारू रूप से संचालन करने के लिए की गई थी। किन्तु समय व्यतीत होने के साथ – साथ इसमें रूढ़ि वादिता और कट्टरता आती गयी जो सामाजिक उन्नति के लिए बनी। वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति के मूल कारण स्थान परिवर्तन, व्यवसाय परिवर्तन धर्म व सम्प्रदाय ही रहे। वर्तमान समय में भारत के पिछड़ेपन का मुख्य कारण जाति प्रथा है लेकिन यह विश्वास व्यक्त किया जा रहा है कि नई शिक्षित पीढ़ी वर्ण व्यवस्था की जंजीरों में बंधे हुए समाज को मुक्त कर देगी और जो भी साम्प्रदायिक झगड़े व फसाद होते हैं वे एक न एक दिन समाप्त हो जायेंगे।

क्रमशः

पर्यावरण अध्यन का महत्व

—एस० पी० सिंह, केन्द्रीय विद्यालय नं० १
बी० एच० ई० एल० हरिद्वार

जब से मनुष्य ने सभ्यता के विकास के सोपान पर कदम रखा है। वह पर्यावरण के बारे में चिन्तनशील रहा है। समय-समय पर मनुष्य के क्रिया कलापों से पर्यावरण पर प्रभाव पड़ता रहा है। और यह पर्यावरण निरन्तर परिवर्तन की ओर अग्रसर है। विभिन्न प्रयोगों के परिणामों व स्रोतो से मनुष्य को पर्यावरण के बारे में ज्ञान अर्जित करने की जिज्ञासा सदैव रही है। धीरे-धीरे पर्यावरण से सम्बन्धित ज्ञान का विस्तार इतना अधिक हो गया है कि इसे एक विज्ञान के रूप में अध्ययन करने की आवश्यकता महसूस हुई और इस प्रकार इस सदी के प्रारम्भ में प्रर्यावरण विज्ञान का उद्भव हुआ। पर्यावरण विज्ञान अब कक्षा सीमाब्द्ध शास्त्रीय विषय न रहकर जनसामान्य मे चर्चा तथा वाद-विवाद का विषय बन गया है। जनसामान्य की परिस्थिति के प्रति जागरूकता और चेतना का मुख्य कारण तेजी से बढ़ती हुई जनसख्या तथा तीव्र औद्योगिकीकरण के कारण उत्पन्न हुई विभिन्न पर्यावरण की समस्याओ की अनुभूति ही है जिसने जनमानस को कहीं गहरे झकझोर दिया।

"पारिभाषिक रूप में पर्यावरण शब्द जीवों की अनुक्रियाओ को प्रभावित करने वाली समस्त भौतिक (Physical) तथा जीवीय (Biotic) परिस्थितियो का योग है" दूसरे शब्दों मे इसे हम जीव मडल (Biophere) भी कह सकते है जो कि जल मंडल (Hydrasphere) स्थल मडल (Lithosphere) तथा वायु मंडल (Atmasphere) के जीवनयुक्त भागों का योग होता है।

आज से हजारो वर्ष पूर्व पृथ्वी पर घने जगल थे जिनमे विभिन्न प्रकार के छोटे बडे जीवजन्तु रहते थे। बड़े जन्तु छोटे जन्तुओ का शिकार करते थे, तथा छोटे जीव जन्तु मुख्यतः वनस्पति पर निर्भर करते थे। यह क्रम जलीय जन्तुओं में भी बना रहा इस प्रकार पृथ्वी पर कभी-कभी छोटे जीव जन्तु अधिक सख्या मे नही रहे। प्रारम्भ मे मनुष्य भी शिकार से अपना भोजन प्राप्त करता था परन्तु विकास के साथ-साथ जब उन्होंने खेती करना सीखा, तब वह खेती-बाड़ी पर ही निर्भर हो गया।

जनसंख्या की तीव्र गति से वृद्धि का परिणाम यह हुआ कि मनुष्य को अपने निवास के लिए, खाद्य सामग्री के लिए अपने कल- कारखाने लगाने के लिए मनोरजन के लिए बड़ी तेजी से जंगलो को काटना प्रारम्भ कर दिया। इससे पर्यावरण सतुलन बिगड़ गया। मनुष्य क्योंकि सभी जीवों में उन्नत है, उसने अपनी सुख सुविधाओं को सर्वोपरि रखा, परिणाम स्वरूप जिस स्थान को उसने अपनी सुख– सुविधा के लिए विकसित किया था वही प्रदूषित हो गया और वातावरण में असंतुलन बन गया। चंडी प्रसाद भट्ट के अनुसार, पर्यावरण के संतुलन और परिस्थितिकीय सुधार का काम केवल ऊपर से योजनाओं को बनाकर थोपने से नही होगा।

परिस्थितिकी (Ecology) को समय-समय पर अनेक प्रकार से विभिन्न विद्वानों द्वारा परिभाषित किया जाता रहा है। फिलिप्स हेटडलर के अनुसार, "परिस्थितिकी जीवो तथा उनके पर्यावरण के प्रसार सम्बन्धो का विज्ञान है।" टेलर के अनुसार, 'परिस्थितिकी समस्त जीवो के समस्त पर्यावरणो के साथी समस्त अध्ययन का विज्ञान है।" ओडम के अनुसार, "प्रकृति की सरचना तथा कार्य का अध्ययन ही परिस्थितिकी है।" टुर्क और विट् के अनुसार, "जीवित तन्त्रो तथा पर्यावरण के बीच के सम्बन्धो का अध्ययन परिस्थितिकी विज्ञान है।" सक्षेप में परिस्थितिकी का पर्यावरण जीवशास्त्र (Envrionmental biology) भी कह सकते हैं।

परिस्थितिकी विज्ञान के अनुसार पृथ्वी को तीन प्रमुख भागो में बाँटा गया है। अत. प्रदूषण के तीन प्रकार के क्षेत्र हो सकते हैं।

१. वायु प्रदूषण
२. जल प्रदूषण
३. मृदीय प्रदूषण

अतिरिक्त जनसंख्या की वृद्धि, वैज्ञानिक आविष्कारो, अनेक रासायनिक तथा भौतिक परिवर्तनों के कारण दो प्रकार के प्रदूषण और महत्वपूर्ण हो गये हैं।

—ध्वनि प्रदूषण और रेडियो–धर्मी प्रदूषण।

वायु प्रदूषण मुख्यतः वायु में उपस्थित विभिन्न यौगिक एव तत्वों का कम या अधिक होना है। उदाहरण के लिए आक्सीजन श्वसन, जलना आदि में प्रयुक्त होती है और वायु में इसके स्थान पर कार्बन–डाई–आक्साइड हानि पहुंचायेगी। उधर आक्सीजन की कमी तो परेशान करने वाली होगी ही सामान्यतः वायु में उपस्थित गैसों के अतिरिक्त अन्य गैसें तथा पदार्थ सम्मिलित होते रहते हैं जो स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त हानिकारक हो सकते है, उदाहरण के लिए विभिन्न हाईड्रोकार्बन्स गन्धक के आक्साइडस, नाइट्रोजन के आक्साइड्स, सीसा, आर्सेनिक के आक्साइड्स आदि। गाड़ियों आदि से मोबिलायल तथा विभिन्न तेलों के जलने से भी वायुमण्डल दूषित होता है। वायु स्वास्थ्य के लिए अति आवश्यक है। दूषित वायु धूल के कण अथवा कुछ रोगाणु कीटाणु वायु के साथ शरीर में प्रविष्ट होकर विभिन्न रोगों को जन्म देते हैं। अशुद्ध वायु का सेवन करने से घुटन का अनुभव सिरदर्द, चक्कर, भारीपन, चिड़चिड़ापन आदि लक्षण पैदा होते हैं। इसके साथ ही भयानक रोग तपेदिक, निमोनिया, श्वास रोग आदि भी अशुद्ध वायु में सांस लेने के कारण ही होते हैं। विभिन्न प्रकार की एलर्जी भी वायु मे धूल तथा अन्य कणों के कारण होती है। औद्योगिक सस्थानों से निकलने वाली गैसें, ठोस कण तथा अन्य विषेले पदार्थ अनेक रोगों को जन्म देते हैं। कैन्सर जैसे रोग के लिए भी यह अनुकूल वातावरण बनाता है। शरीर की प्रतिरोधक शक्ति कम होने के कारण थकावट, मानसिक तनाव, उच्च रक्त चाप आदि रोग हो सकते हैं।

जल प्रदूषण के अनेक स्रोत जल मे रोग उत्पादक पदार्थ या जीवाणु जैसे रोगाणु लाते हैं। सीसा, पारा आदि पदार्थ जो औद्योगिक संस्थानो से निकलते हैं और जलस्रोतो मे छोड़ दिये जाते हैं। कृषि इत्यादि मे काम आने वाले कीटाणुनाशक पदार्थ तथा विभिन्न प्रकार की रासायनिक खादे आदि भी स्रोतो मे पहुच जाती है। वाहित मल मनुष्यों द्वारा जल प्रवाह मे मिला दिया जाता है। विभिन्न प्रकार के रोग जैसे पीलिया, टाइफाइड, हैजा, अतिसार, पेचिश आदि के रोगाणु इसी के द्वारा जल मे पहुचते हैं। परमाणु विस्फोटों से होने वाले पदार्थ जल मे पहुंच जाते हैं।

प्रदूषित जल तथा वायु के कारण मृदा भी प्रदूषित हो जाती है। वर्षा इत्यादि

के जल के साथ ये प्रदूषण पदार्थ मृदा मे आ जाते है जैसे वायु मे सल्फर-डाई-आक्साइड वर्षा के जल के साथ मिलकर गंधक का अम्ल बना देती है। इसी प्रकार जन संख्या वृद्धि के साथ-साथ अधिक फसल पैदा करने के लिए उर्वरकों अन्धाधुन्ध प्रयोग किया जाता है। विभिन्न प्रकार के कीटाणुनाशक पदार्थ अपतृणनाशी (Weedicide) आदि फसलों पर छिड़के जाते है। इस प्रकार मृदा को प्रदूषित करने में प्रमुख हाथ घरेलू अपमार्जको, वाहित मल, बहने वाले जल, उद्योगों के अवशिष्ट पदार्थो, तेल, कीटाणुनाशक, अपतृणनाशी, रेडियोधर्मी पदार्थ तथा गर्म पदार्थों आदि के निष्कासन का हैं।

शोर वर्तमान सभ्यता तथा तकनीकी ज्ञान की वृद्धि का उत्पाद है। एक शहरी वातावरण में शोर, घंटियों, अलार्म घडियो, टेलीफोन की घटियों मिक्सर व ग्राण्डर, वैक्यूल क्लीनर, कपड़े धोने की मशीन, एयर कन्डीशनर, कूलर, अनेक अन्य घरेलु विद्युत उपकरणों, टेलिविजन, रेडियों, वाहनों, उद्योगो की मशीनो लाउडस्पीकर, रेलवे, हेलिकोप्टर, जैट, राकेट, सगीत आदि स्रोत्रो से पैदा होता है। शोर न केवल हमारे बातचीत, आराम आदि में बाधा उत्पन्न करता है बल्कि यह मस्तिष्क को शान्ति, स्वास्थ्य तथा व्यवहार को भी प्रभावित करता है। अधिक लम्बे समय तक शोर रहे तो श्रवण तन्त्र की स्थायी अथवा अस्थायी क्षति हो सकती है। ध्वनि से चिड़चिड़ापन भी पैदा हो जाता है। शोर प्रदूषण से आंख का तारा फैल जाता है। पेशियो में तनाव बढ़ता है जठर-रसो का स्राव कम हो जाता है. १२० डीबी से अधिक ध्वनि गर्भवती महिलाओ तथा गर्भस्थ शिशु के लिए हानिकारक है।

रेडियों धर्मी पदार्थ वातावरण मे विभिन्न प्रकार के कण और किरणों को उत्पन्न करते हैं। परमाणु शक्ति उत्पादन केन्द्रो और आणविक परीक्षण इत्यादि से वातावरण मे रेडियो धर्मिता बढती हैं। जल, वायु और मिट्टी का इन कणो के द्वारा प्रदूषण विभिन्न प्रकार के भयानक रोग उत्पन्न कर सकता है। साथ ही यह रोग आनुवंशिक होते हैं। रेडियोधर्मी विकिरणों द्वारा कोशिकाओ के अन्दर उपस्थित गुणसूत्रों के जीन्स मे अचानक परिवर्तन हो जाते हैं। रेडियोधर्मी विकिरण से कैन्सर, ल्यूकेरिया आदि अनेक प्रकार के भयानक रोग उत्पन्न हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त रोग अवरोधक शक्ति का ह्रास हो जाता है और तन्त्रिका तन्त्र मे अनेक विकार उत्पन्न हो जाते हैं।

उपर्युक्त प्रदूषणों के अतिरिक्त जंगलों को काटकर जंगली जानवरों का शिकार करके, जनसंख्या की अत्यधिक वृद्धि आदि के द्वारा पर्यावरण को रहने योग्य नहीं छोड़ा है। उपर्युक्त कारणों से स्वयं मनुष्य की जाति प्रभावित हुए बिना नहीं रही। मृत्यु दर में वृद्धि, असंतुलित बच्चों का जन्म, भोजन की कमी, बाढ़, सूखे आदि का प्रकोप इस स्थिति के लिए मुख्य रूप से उत्तरदायी है। इस प्रकार मनुष्य ने स्वयं ही पर्यावरण में असंतुलन पैदा कर अपने अस्तित्व को खतरे में डाला है। पर्यावरण के साथ मानव का समन्वय अति आवश्यक है। मानव ने सदैव ही विभिन्न पारिस्थितिक तन्त्रों को अपने अनुसार बदलने का प्रयत्न किया है और बिना सोच विचार के उसे नष्ट कर डाला है। जंगलों को नष्ट करने का प्रकरण चलता ही जाता है फलस्वरुप सारा वातावरण जलवायु सहित ही बदलता जा रहा है, इसे रोकना आवश्यक है। दूसरी ओर उसने तरह-तरह से वायुमण्डल तथा जलमण्डल को प्रदूषित किया है और कर रहा है। कल-कारखानों आदि से उत्पादित पदार्थों के द्वारा एक स्तर के जीवों के नष्ट होने से पारिस्थितिक तन्त्र एकदम गड़बड़ा गया है। मनुष्य को ध्यान रखना चाहिए कि वह भी पर्यावरण का ही एक भाग है अतः अपने पर्यावरण के साथ उसे समन्वयन करना ही होगा।

"कुलभूमि-गौरवम्"

रचयिता—डा० सत्यदेवो निगमालंकार
रीडर संस्कृत-विभाग
जय भारत साधु महाविद्यालय, हरिद्वारम

त्वमसि मे जननी सुखदायिनी
त्वमसि बुद्धि धनादिक दायिनी ।
कुलधरे ! कलिकल्मष हारिणी,
तव तुला नहि काऽपि धरातले ॥१॥

ऋषिकुल तव संगमनेच्छुक,
भवति ताप हरे हितकारिणि ।
तव कृपा फलतीह शुभाश्रया,
तव तुला नहि काऽपि धरातले ॥२॥

बटुगणास्तु यदा शरणं तव
समधिगन्ति गृह प्रविहायस्वम् ।
वितरसि त्वमल सकल सुख
तव तुला नहि काऽपि धरातले ॥३॥

जगति ये नर जन्म समाश्रिता,
ऋतुदृशो विबुधाश्च भवन्ति य ।
फलति तेषु कृपा तव चानिशम्
तव तुला नहि काऽपि धरातले ॥४॥

यदि भवेत् शुभकर्म पुराकृत
यदि विभर्विननीति कृपाफलम् ।
भवति दर्शनमत्र कुले यते
तव तुला नहि काऽपि धरातले ॥५॥

यद्यपि वा भृणमस्तपस फल
तदखिल वसतस्तव संनिधौ ।
भवति दर्शन मत्र कुले च ते,
तव तुला नहि काऽपि धरातल ।६॥

यदि च नश्यति दुष्कृत जातक
गुरुकृपां लभते यदि मानव ।
भवति दर्शनमत्र कुले च ते
तव तुला नहि काऽपि धरातले ॥७॥

निखिल शिष्ट जनप्रति पालिका
विविध विज्ञगणाः कथयन्ति माम् ।
भवति पुण्यकृतां तव दर्शनम्,
तव तुला नहि काऽपि धरातले ॥८॥

मृति भयान्न बिभेति कदाप्यसौ,
भवति यस्य जनिस्तव गर्भतः ।
हसति मृत्युमवेक्ष्य पटुर्वटु–
स्तव तुला नहि काऽपि धरातले ॥९॥

भजति वृद्धगति नहि चायुषा,
स्पृशति नैव कदापि तमामयः ।
भवति यस्य जनिस्तव गर्भत–
स्तव तुला नहि काऽपि धरातले ॥१०॥

त्यजति कल्मष कष्ट करालक,
प्रविशतीह यदा तव शगृहम् ।
तनय एति सुख जनयित्रि ते,
तव तुला नहि काऽपि धरातले ॥११॥

त्वमसि सस्कृत – बोधन कारिणी,
त्वमसि सत्यसु सुधा मृतवर्षिणी ।
त्वमसि वैदिक मन्त्र विमर्शिनी,
तव तुला नहि काऽपि धरातले ॥१२॥

विरहिता भयशोक मलैस्तु ते,
वटुगणा मुदितास्तव कानने ।
प्रविचरन्ति तवाञ्चल रक्षिता–
स्तव तुला नहि काऽपि धरातले ॥१३॥

हसति साधु समागम सेवना–
दति स रोदिति दुर्जन सगतः ।
तव समा गयनात् सुखमे धते,
तव तुला नहि काऽपि धरातले ॥१४॥

स्पृशति यं धवलं खलुते यशो
भवति मृत्युपदाद्रहितो जनः ।
तरति सोऽथ जगद् खलु दुस्तरं,
तव तुला नहि काऽपि धरातले ॥१५॥

नृप – पदे – जन–रक्षण – कर्मणि,
भवति योऽनिशमार्य धुरन्धरः ।
तव सुतः प्रथमो हि विराजते,
तव तुला नहि काऽपि धरातले ॥१६॥

गुरुकुलं ननु नाम तवाऽस्ति यत्,
सकल – लोक–सुपावन–कारि तत् ।
हृदि दधासि सुख निखिलान् वटून्
तव तुला नहि काऽपि धरातले ॥१७॥

सरस – कान्त – कलेवर–धारिणि,
ह्यमृत रुपमयी प्रविराजसे ।
जगति सुन्दर – शान्त - सुखाहिता,
तव तुला नहि काऽपि धरातले ॥१८॥

उदयतीह रविस्त्वदनन्तरं,
निज सुतैस्सह जागरिता सदा ।
प्रथमसि त्वमहो सुरभि तत,
तव तुला नहि काऽपि धरातले ॥१९॥

सरसतामतुलां विपुलामिमां,
प्रतनुषे शिव सोम्य सुधाञ्चत्वम् ।
सुखरसेन समस्य हि पोषिणी,
तव तुला नहि काऽपि धरातले ॥२०॥

प्रतिदिनं श्रुति शास्त्र विबोधिका,
सुरुचिरस्य पथस्य निदेशिकाः ।
त्वमसि सामरवस्य सुलापिनी,
तव तुला नहि काऽपि धरातले ॥२१॥

शशि – दिवाकर – तारकमण्डल,
न कुरुते भुवि भासमहो तथा ।
तव यथा भुवने कमनीयता,
तव तुला नहि काऽपि धरातले ॥२२॥

कमल कोमल माननमस्ति ते,
हृदयमप्यथ वत्सलता भरम् ।
विमल – सोम समानि यशासि ते,
तव तुला नहि काऽपि धरातले ॥२३॥

तव तनूर्नवतां दिशति क्वचित्,
क्वचिदयो भजतेऽपि पुराणताम् ।
क्वचिदलं वहते रमणीयताम्,
तव तुला नहि काऽपि धरातले ॥२४॥

उदरम् व्यगतास्तव, ये जना–
नियमितानथ तांस्तु क्षितीश्वरान् ।
प्रणमति प्रकृतिर्नु भयात् स्वयं,
तव तुला नहि काऽपि धरातले ॥२५॥

मनसि यस्य तवाऽस्ति कृतं पदं,
नयनयोश्च स्पृहा तव दर्शने ।
भवति तस्य सुख निज जीवने
तव तुला नहि काऽपि धरातले ॥२६॥

सुरभि ते यशसा धवल मुहु –
गुरुकुल तव शिष्य जनैर्वृतम् ।
सरसता – वितता तव जीवने,
तव तुला नहि काऽपि धरातले ॥२७॥

श्रुति गिरा हि सुधा मधुवर्षिणी,
विविध बोध फलैश्च विहर्षिणी ।
प्रकृत वाग्व्यसनेन विलासिनी,
तव तुला नहि काऽपि धरातले ॥२८॥

प्रथयसीह शमं जगतीतले,
स्व–सरणी–सरस – शिव वर्षिणी ।
कलित–भीषण काल विनाशिनी,
तव तुला नहि काऽपि धरातले ॥२९॥

सृजसि धाम निजं हि सुरालयं,
प्रथयसि प्रथित प्रभु – पावितम् ।
रमस आन्तर मानुष मानसे,
तव तुला नहि काऽपि धरातले ॥३०॥

उचितमेव विनोषि चयस्पदे,
दयितमेव दयायपि – देवते ।
असि सुरेश्वर – मानव – रक्षिणी,
तव तुला नहि काऽपि धरातले ॥३१॥

द्रवसि, दानवजे – शरणागते,
निपतिते निजपाप जलार्णवे ।
सुखद बोध – दृशा – परिरक्षसि,
तव तुला नहि काऽपि धरातले ॥३२॥

त्वमसुरान् विनिहंसि सुमानिनि !
सुविदुषः किल रक्षसि भामिनी !
उचित चारिणि हे हित कारिणि !
तव तुला नहि काऽपि धरातले ॥३३॥

सरसाताञ्च नोषि जनान् प्रति,
प्रतिदिनं सुदिनं तव चेष्टितम् ।
भव भवाब्धि भयस्य हि हारिणी,
तव तुला नहि काऽपि धरातले ॥३४॥

अतुलिता तुलना जगती तले,
ललितमस्ति ततं तव चाननम् ।
सुललिताः हिकलास्तव शोभना–
स्त तुला नहि काऽपि धरातले ॥३५॥

भवति शीतगुणः शरदागमे,
हृदि तु तेऽस्ति नुशीतलता सदा ।
जगति ते प्रकृतिः सुखवर्षिणी,
तव तुला नहि काऽपि धरातले ॥३६॥

विकसितं चकितं तव लोचनं,
सुमधुरास्ति हि वाक् सुखदा जया ।
सुललिता प्रथिता किल ते तनु–
स्तव तुला नहि काऽपि धरातले ॥३७॥

भवति धर्म–गतेः परिधारिणी,
तरणीव भवाब्धि सुतारिणी ।
कुटिलता न तता तव जीवने,
तव तुला नहि काऽपि धरातले ॥३८॥

अतुलितं ललितं कल – कान्तिजं,
रुचिरमस्ति हि रूपमयोन्तरम् ।
कलयसि त्वमहो कलनी परम,
तव तुला नहि काऽपि धरातले ॥३९॥

वयमबोध — युतास्तव बालकाः
विनिवसाम इहैव तवोदरे ।
वितरसीह गुणाम् वरदायिनी,
तव तुला नहि काऽपि धरातले ॥४०॥

सकल – कष्ट – कलाप–निवारिणि,
त्वमसि धर्म – धुरः परि धारिणी ।
विविध शास्त्र विदामुप कारिणी,
तव तुला नहि काऽपि धरातले ॥४१॥

त्वयि निवास परेण मया पुरा.
विपुलमात्तमिद सुकृत सुखम् ।
स्मृतिमपि प्रवियाति पुद. पुन–
स्तव तुला नहि काऽपि धरातले ॥४२॥

जननि जाड्यमिद हर मेऽतुल,
बहुविध बहुजन्मसमर्जितम् ।
कुरू कृपामतुला वरदायिनि,
तव तुला नहि काऽपि धरातले ॥४३॥

मयि शिवे शरणागत् वत्सले ।
जगति नाम तव प्रथित परम् ।
चरणयो पतित परिरक्ष मा,
तव तुला नहि काऽपि धरातले ॥४४॥

यदि भवेन्मम जन्म – पुनः पुन–
विनिवसेयमह तव सन्निधौ ।
शृणु ममैव मिमा वर . कामना,
तव तुला नहि काऽपि धरातले ॥४५॥

यदि च स्यात् पशु - जन्म ममाखिल,
तदपि ते धरणौ वसतिर्भवेत् ।
श्रुति – गिर सवसा शृणुयामह.
तव तुला नहि काऽप धरातले ॥४६॥

यदि भवेयमहं खगजन्मनि,
तव तरौ निवसेय महं मुदा ।
वितर पापहर निजदर्शन,
तव तुला नहि काऽपि धरातले॥४७॥

पुनरहो तव चाङ्गणखेलनं,
पुनरहो तव धूलि – विलोठनम् ।
पुनरहो शयनं तव हस्तयो-
स्तव तुला नहि काऽपि धरातले ॥४८॥

जननि कस्तव कीर्तिकलां स्पृशेत्,
जगति कस्तव नाम – गणं वदेत् ।
त्वमतुला वितता जनमानसे,
तव तुला नहि काऽपि धरातले ॥४६॥

विरम वाणि ! वदामि हिताय ते,
तव कृते सुशकं नहि वर्णनम् ।
विजयतां गुरू – गौरव – सौरभं,
विजयतां विमलं कुल गौरवम् ॥५०॥

इति जयतु कुल भूमिगौरवम्

वेदशब्दविमर्शः

डा. दिनेशचन्द्रः
वेद विभाग गु.का.वि.वि. हरिद्वारम्

वेद शब्दस्य व्युत्पत्तिमलभ्योऽर्थः कः ? इति जिज्ञासाया कथ्यते – 'विद्यन्ते ज्ञायन्ते लभ्यन्ते वा धर्मादिपदार्था येन स वेदः' इति बह्वृक् प्रातिशाख्ये वृत्त्युपक्रमे देवमित्रः । 'अपौरुषेयं वाक्यं वेदः' इति सायणीये ऋग्भाष्ये । 'इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरलौकिकमुपाय यो वेदयति स वेद.' इति सायणीय–कृष्ण यजुर्वेद (तै स) भाष्य भूमिकायाम् । तथैव सायणेन प्रमाणत्वेनेद वचनम् उट्टङ्कितम्—

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुद्ध्यते ।
एन विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता ॥ इति ।

आधुनिक भाष्यकृता श्रीमता दयानन्दस्वामिनाऽपि वेदशब्दस्येत्थ व्युत्पत्तिर्विहिता 'विदन्ति जानन्ति, विद्यन्ते भवन्ति, विन्दन्ति विन्दन्ते लभन्ते, विन्दते विचारयन्ति सर्वा सत्यविद्या यैर्येषु वा स वेदः'[1] इति । तदेवविधाना सर्वासामपि व्युत्पत्तीना तात्पर्यविषयीभूतोऽर्थः समान एव । स च वेदानामखिलविद्यानिधानत्वे अपौरूषेयत्वे नित्यत्वे च पर्यवस्यति ।

एव तत्त्वतो विमृश्यमाने सुतरां प्रतिफलति यत् वेदो हि नानाशेष - विशेष-ज्ञान-विज्ञान-प्रतिपादक शाश्वतिकम् अपौरुषेय शास्त्रम् । आम्नाय, आगम., श्रुति, वेद इत्यनर्थान्तरम् । सोऽय 'त्रयी' – त्यभिधयाऽपि परिभाष्यते । वेदरचनायास्त्रैविध्यमेव अस्य त्रयीत्वे बीजम् । पद्यमयी रचना ऋगुच्यते, गद्यमयी यजुः, गीतिमयी च सामेत्यभिधीयते । यथाऽऽह भगवान् जैमिनि.—

येषामृक् यत्रार्थवशेन पाद – व्यवस्था ॥
गीतिषु सामाख्या ॥
शेषे यजु' शब्द ॥ (मी.सू. २.१.३५–३७) इति ।

सोऽय गद्य–पद्य – गानलक्षणैस्त्रयी सञ्जितो वेद ऋग्-यजु - सामाथर्वेति चतुसहितासु विभक्तो विषयभेदात् । यथा चाऽऽह षड्गुरुशिष्य —

"विनियोक्तस्वरूपश्च, त्रिविध सम्प्रदर्श्यते ।
ऋग्यजु. सामरूपेण मन्त्रो वेदचतुष्टये ॥" (सर्वानुक्रमणी) ॥

"ऋक्पादबद्धा गीत तु साम गद्य यजुमन्त्र. ।
चतुर्ष्वपि हि वेदेषु त्रिधैव विनियुज्यते ॥"[2]

१— ऋ.भा.भू. वेदोत्पत्तिविषयः, पृ० १६, सा. आ०प्र०स० प्रकाशन, स २०३६ वि ।
२— षड्गुरुशिष्यकृत सर्वानुक्रमणी वृत्ति–भूमिका ।

अत्र केचन व्यवतिष्ठन्ते यत् त्रय एव वेदाः ऋक् - यजु - सामाख्या । अथर्वस्तु उक्तत्रयीपरिशिष्टरूप. । अतोऽर्वाचीन । प्राचीनेषु छान्दोग्य ब्राह्मणमन्वादिस्मृतिषु त्रयाणामेव वेदानामुल्लेख । यथा—

अग्नेऋर्चो वायोर्यजूंषि सामान्यादित्यादिति (छा०ब्रा० ६ १७) ।

'अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रय ब्रह्मसनातनम् ।

दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजु. सामलक्षणम् ॥' मनु० १.२३॥

किञ्च अर्वाचीनेषु बृहदारण्यक - महाभारतादिषु नामग्राहमथर्ववेदस्य य समुल्लेखः सोऽपि तावता कालेन अथर्ववेदस्य विरचनात् सम्भावयितु शक्यते इति ।

नैतद्विचारसहम्, तद्विपर्यय दर्शनात्, ऋग्वेदेऽपि अथर्ववेदस्य नामोपलम्भाच्च ।[1] समस्तेऽपि वैदिके साहित्ये ईदृशाभिमतस्य न कोऽप्युपलभ्यते आधार. । वस्तुतस्त्रयीति व्यवहारस्तत्र रचनानिबन्धनो न खलु सङ्ख्या - निबन्धन इति हि उक्तपूर्वम् ।[2] यथा चैषा रचनानुबन्धी त्रयीत्वव्यवहारस्तथैव मन्त्रगतक्रियामनुरुद्ध्यापि तेषा त्रैविध्यमुपपादित निरुक्ते यास्काचार्येण । यथा— "ता ऋचः परोक्षकृता प्रत्यक्षकृता आध्यात्मिक्यश्चेति भेदात् त्रिविधाः । ऋक्शब्दोऽत्र मन्त्रवचन. । यासु चोत्तमपुरुष-क्रियास्ता आध्यात्मिक्य " इति ।[3]

अतो यत्र कुत्रापि प्राचा लेखेषु वेदस्य कृते त्रयीत्वव्यवहारो दृश्यते, न स वेदाना चतुष्टयत्वनिरासाय, प्रत्युत तदुपयोगत्रैविध्यमालम्ब्य अस्ति ।

वेदशब्दो वेदेऽन्तोदात्त आद्युदात्तश्चेत्युभयात्मकोऽस्त । प्रत्ययादिरहितोऽव्युत्पन्नो वेदशब्द 'फिषोऽन्त उदात्त.' इति फिट्सूत्रेण अन्तोदात्तो भवति । विद् सत्तायाम्, विद् ज्ञाने, विद् विचारणे, विद्लृलाभे, विद् चेतनाख्याननिवासेषु एतेभ्योऽदादिदिवादितुदादिरुधादिचुरादिगणाना धातुभ्यश्च 'घञ्' प्रत्यये कृते ञ्नित्यादिर्नित्यम्' इति सूत्रेण आद्युदात्तो भवति । शब्दस्तोमे अकारादिकोशेचाऽयं वेदशब्द उ + अ + इ + द — एषाञ्चतुर्णाम् अक्षराणा सयोगेन प्रतिपादित अत्र खलु उकारेण 'ऋग्वेद' अकारेण 'यजुर्वेद', इकारेण 'सामवेदः' दकारेण च 'अथर्ववेद' गृह्यते इति ।

१— ऋग् १०.९० ९ एव ऋग्. ४.५८ ३ मन्त्रस्य निरुक्तभाष्यम् (१३७) ।

२— महाभारतेऽप्येवमेव कथितम्—

त्रयी विद्यामवेक्षेत वेदेसूक्तमथाङ्गतः ।
ऋक्साम वर्णाक्षरतो यजुसोऽथर्वणस्तथा ॥शा०प० २३५.१) ॥

३— निरुक्तम् ७.१.२